CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

निदान पञ्चक

[FIVE PRINCIPLES OF DIAGNOSIS]

वैद्य शिवचरण ध्यानी

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

९।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा आयुर्विज्ञान ग्रन्थमाला

२०

निदान-पञ्चक

लेखक

वैद्य शिवचरण ध्यानी

बी. आई. एम. एस., आयुर्वेदाचार्य, एच. पी. ए.

रीडर : कायचिकित्सा

अनुस्नातक विभाग, गुजरात आयुर्वेद यूनिवर्सिटी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

संस्करण : 2014
मूल्य : 80.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 32996391
ई-मेल : chaukhambapublishinghouse@gmail.

❖

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

❖

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2420404

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

FOREWORD

The classical texts of Ayurveda contain an elaborate description of the diagnostic methods as envisaged by our ancient Acharyas. These descriptions are subjective as well as objective; they are the concepts and principles to be applied to understand the disease and the diseased; they are the broad generalisations and classifications. Today, these descriptions require to be interpreted and explained in such a way that the post-graduates and the research workers may be benefitted in learning the most scientific wisdom behind these sutras.

Shri Shiva Charan Dhyani, Reader of the Post-graduate Section of our University, has very nicely explained the scientific meanings of 'Nidāna Pañcaka' in this valuable publication. He has raised many interesting questions about the practical application of the five principles of diagnosis and has also furnished answers to them alongwith many practical prepositions to be worked out by those, who are interested in exploring the hidden treasure of Ayurveda. His original ideas supported by Ayrvedic principles about the Disease and it's phases, the actio-pathogenesis in relation to the symptomatology of a disease, ars worthy of appreciation. I congratulate the writer for his best piece of work embodied in this book 'Nidāna Pañcaka'.

I am glad to place this book in the hands of the scholars, teachers and students of Ayurveda.

Gordhanbhai M. Patel
Vice-Chancellor
Gujarat Ayurveda University

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राक्कथन

रोग के विनिश्चयार्थ रोग-परीक्षा तथा रोगी-परीक्षा की जाती है। रोग-परीक्षा निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति से होती है। इन्हें ही निदान-पञ्चक भी कहते हैं। इनसे सम्बन्धित उपलब्धसाहित्य के आधार पर इस पुस्तिका में केवल आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से ही विषय को प्रतिपादित किया गया है। साथ ही कुछ नवीन विचार भी प्रस्तुत किये गये हैं, जिनकी पुष्टि शास्त्रवचनों द्वारा की गई है। शास्त्रीय विवेचन के अतिरिक्त, इस पुस्तिका में निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किये गये हैं—

१. वृद्धिगत दोष ही रोगोत्पत्ति करते हैं। दोषक्षय एकदेशीय, अभावज या आवरणजन्य हुआ करता है, जिसका रोगविनिश्चय में महत्त्व है।

२. रोगावस्था में धातुक्षय एक अनिवार्य घटना है; धातुवृद्धि एकदेशीय होती है और उसका रोगविनिश्चय में महत्त्व है।

३. निदान से तीन प्रकार के कार्य होते हैं—दोषवृद्धि, दूष्यों में दौर्बल्य या शैथिल्य तथा खवैगुण्य।

४. स्रोतोदुष्टि और खवैगुण्य में अन्तर है। खवैगुण्य निदान से होता है और स्रोतोदुष्टि दोषदूष्य सम्मूर्च्छना-जनित है।

५. स्रोतोदुष्टि सभी रोगों में होती है; अधिकतम व्याधियों में स्रोतोदुष्टि का 'संग' लक्षण मिलता है।

६. सम्प्राप्ति की चयावस्था में पोषक दोषों का चय उनके कोष्ठस्थ स्थानों में आम से अवरोध उत्पन्न होने के कारण होता है। यह आम 'प्रकोप' की अवस्था में आमविष में परिवर्तित हो जाता है और विष सर्वस्रोतोनुगामी होने से स्वयं भी प्रसर करता है और इस प्रकार अवरोध हट जाने से दोष भी प्रसर करते हैं।

७. दोषदूष्य सम्मूर्च्छना एवं स्रोतोदुष्टि ही व्याधि है, जिसका ज्ञान प्रत्यात्म लक्षण तथा लक्षण-समुच्चय से किया जाता है। लक्षण दो प्रकार के बताये गये हैं—प्रकृति सम समवेत लक्षण जो कि प्रकृति सम समवेत सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होते हैं, और विकृति विषम समवेत लक्षण जो कि विकृति विषम समवेत सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

८. 'संतर्पण' और 'अपतर्पण' शब्दों का प्रयोग निदान के क्षेत्र में तथा स्नेहन-स्वेदनादि (षट् उपक्रमों) शब्दों का प्रयोग चिकित्सा के क्षेत्र में किया जाना चाहिए।

९. जिन रोगों में पूर्वरूप तथा सामान्य लक्षण वर्णित नहीं हैं उनमें अव्यक्त लक्षणों को ही पूर्वरूप समझना चाहिए तथा सामान्य लक्षण बना लेने चाहिए।

१०. पर्याप्त शास्त्रीय उद्धरणों से उपशयानुपशय का विस्तृत विवेचन कर रोग-विनिश्चय करने में उपशय को ही व्यावहारिक एवं अधिक प्रचलित माना गया है।

११. कुछ उदाहरणों द्वारा निदान-पञ्चक का रोग-विनिश्चय में महत्त्व एवं व्यावहारिक उपयोगिता को बताया गया है।

अन्त में, मैं चौखम्बा सुरभारती के अध्यक्ष महोदय को प्रस्तुत ग्रन्थ के परिवर्द्धित संस्करण के अभिनव प्रकाशन के लिए साधुवाद देता हूँ। मैं उन सभी विद्वानों का भी आभारी हूँ जिनके लेखों तथा पुस्तकों से मुझे इस संस्करण में सहायता मिली है।

शिवचरण ध्यानी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ
स्वास्थ्य और रोग	१
साम्यं प्रकृतिरुच्यते	६
दोषों की रसगुणात्मक समीक्षा	१०
विकारो धातुवैषम्यम्	१५
दोषक्षय : अभावज, एकदेशीय या आवरणजन्य	१७
रोगावस्था में धातुक्षय	२१
निदानं तु आदिकारणम्	२६
निदान के भेद	२७
निदान के कार्य	२८
निदान से दोष-प्रकोप	२९
निदान से खवैगुण्य	३५
निदान से दूष्यों में दौर्बल्य	३८
एक रोग से दूसरे रोग की उत्पत्ति	३९
निदान का व्यावहारिक महत्त्व	४१
संतर्पण व अपतर्पण बनाम निदान	४३
सन्तर्पणोत्थ विकार	४४
अपतर्पणोत्थ विकार	४४
व्याधिजन्मपर्यन्तं शरीरे दोषाणां परिणामपरम्परा-सम्प्राप्तिः	४८
पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः	५३
प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम्	५८
व्याधि किसे कहते हैं ?	५८
रोग और लक्षण	५९
व्याधि का आशुकारित्व और चिरकारित्व	६१
सम्प्राप्ति की भेदावस्था	६१
स्रोतोदुष्टि	६२
स्रोतोदुष्टि और खवैगुण्य में अन्तर	६३
स्रोतोदुष्टि के प्रकार	६४
अतिप्रवृत्ति	६४

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संग	६५
संग और आवरण में विभेद	६६
विमार्गगमन, आशायापकर्ष, विलोमगति	६६
सिरा-ग्रन्थि	६७
सम्प्राप्ति और चिकित्सा का सम्बन्ध	६८
गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत्	७२
उपशय के १८ भेद	७२
रोगों के नाम और उनके भेदों का निदान-चिकित्सात्मक महत्त्व	७६
निदान-पञ्चक से रोग-विनिश्चय में सहायता	७८
तमक-श्वास	८०
जलोदर	८१
छर्दि	८२
शोथरोग	८३
मधुमेह	८४
राजयक्ष्मा	८६
विसूचिका	८७
कामला	८७
पुरुष की सर्वाङ्गीण चिकित्सा करें !	८९

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वास्थ्य और रोग

हमारा निर्माण पदार्थ और परमात्मा से होता है। इसमें चेतन अचेतन का हाथ पकड़ता है, अचेतन चैतन्य प्राप्त कर लेता है; निर्जीव पञ्च-महाभूत आत्मा के सान्निध्य में सजीव त्रिदोषों के रूप में उपस्थित होते हैं। 'स पुमान् चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्' इस चिकित्स्य पुरुष में दोष-धातु-मल पदार्थ के प्रतीक हैं और आत्मा-इन्द्रियाँ-मन परमात्मा के प्रतिनिधि हैं। ये दोनों स्थूल और सूक्ष्म भाव परस्पर समत्व और ममत्व की भावना से रहते हैं जिसे चरक ने शरीर की परिभाषा में व्यक्त किया है : 'शरीरं चेतनाधिष्ठान भूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि'। जीवित शरीर और आत्मा के बीच कोई विभेदक रेखा खींचना कठिन है मानो कि 'सूक्ष्म शरीर का नाम ही आत्मा है और स्थूल आत्मा का नाम ही शरीर है'। लेकिन एक विचित्र बात है कि शरीर जीर्णशील है, जब कि आत्मा अजर है; शरीर मरणधर्मा है, जबकि आत्मा अमर है। एक अजर-अमर का एक जरण-मरण-शील के साथ प्रकृतितः एक विशिष्ट और घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है जिससे इस लोक में जीवन प्रवाहित होता है। शरीर में जब शरीरि (आत्मा) रहता है, तब जीवन रहता है और जब शरीरि चला जाता है तो शरीर मृत (पञ्चत्वं गतः) हो जाता है, श्वासोच्छ्वास, हृद्गति (नाड़ी) बन्द हो जाती है, शरीर के सभी क्रिया-कलाप समाप्त हो जाते हैं। स्पष्टतः जीवन परमात्मा पर आधारित है, अतः परमात्मा के लक्षण ही जीवन के लक्षण होते हैं। परमात्मा के लक्षण इस प्रकार वर्णित हैं : 'इच्छा-द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिस्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः'।

परमात्मा के पूर्वोक्त लक्षणों में से प्रथम पाँच लक्षण जीवित शरीर के लक्षण (Signs of life) हैं। शेष पाँच आत्मिक अभिव्यक्तियाँ हैं। आत्मिक-भाव शारीरिकभावों के प्रेरक, पोषक और सर्जक हुआ करते हैं :

शारीरिक भाव	Signs of life	मानसिक भाव
इच्छा	Assimilation	चेतना
द्वेषः	Excretion	धृतिः
सुखम्	Growth	बुद्धिः
दुःखम्	Irritability	स्मृतिः
प्रयत्नः	Reproduction	अहङ्कारः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसे इस प्रकार भी दर्शाया जा सकता है—

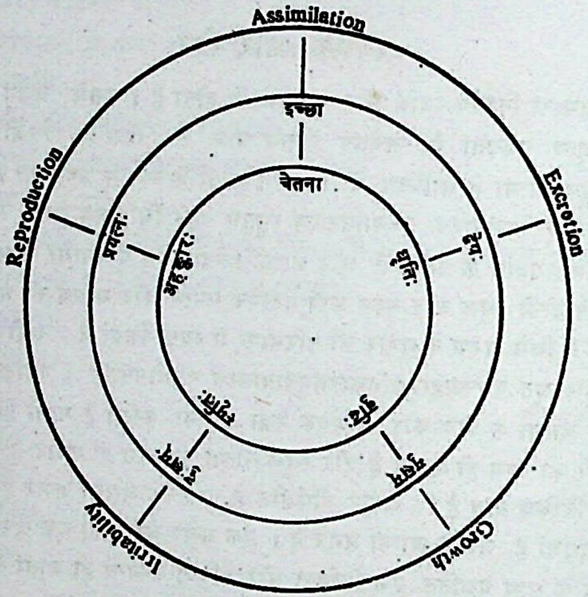

किसी भी जीव की प्रवलतम इच्छा जिजीविषा होती है जो चेतना की छाया में आहार के पाचन और शोषण पर निर्भर करती है। अतः प्रस्तुत संदर्भ में 'इच्छा' Assimilation की सूचक है। आहार-पाचन और धातु-निर्माण की प्रक्रियाओं में कुछ मलभूत पदार्थ भी बन जाते हैं जो, धृति कहती है कि, शरीर के लिए घातक हैं। अतः शरीर का उनसे द्वेष होता है और वह उन्हें बाहर निकाल देता है (Excretion)। सर्वाधिक सुख 'एकोऽहं बहु स्याम' में है और बुद्धि बताती है कि यही अनुकूल वेदनीयता है। अतः प्रस्तुत संदर्भ में सुख ही Growth है। प्रतिकूल वेदनीयता दुःख है जिसका ज्ञान स्मृति कराती है। दुःख ही Irritation है। जीव अजर-अमर बनने की निरन्तर अभिलाषा रखता है क्योंकि अहंकार (मन) सातत्य चाहता है और तदर्थ प्रयत्न ही प्रजनन (Reproduction) है जिससे स्वयं अजर-अमर न सही, संतति-सातत्य के रूप में अजर-अमर होने का यत्किंचित् संतोष प्राप्त कर लेता है।

पूर्वोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मानसिक भावों का बड़ा आधिपत्य रहता है। इन भावों में चेतना ही प्रमुखतम है और वह परमात्मा का ही स्वरूप है। परमात्मा हमारे जीवन का नियन्ता है लेकिन निर्लिप्त है, मात्र द्रष्टा है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्त्ता नहीं। जो निर्लिप्त है और कर्त्ता नहीं है उसे रोग नहीं हो सकता है, वह तो सदा स्वस्थ रहेगा। इसलिए स्वास्थ्य हमारा स्वभाव है, स्वास्थ्य हमारा स्वरूप है, स्वास्थ्य हमारी नियति है। स्वास्थ्य नियम है अपवाद नहीं। नियम सतत परीक्षित-परिलक्षित-प्रवर्तमान-पालनीय प्रक्रियाओं का नाम है जब कि अपवाद उस नियम का क्वचित्-कदाचित्-कथंचित् उल्लंघन है।

स्वास्थ्य गति है, गीत है, गन्तव्य है; प्रकृति है, प्रवृत्ति है, कर्तव्य है; प्रसन्नता है, प्रेम है, प्रार्थना है; पूजा है, पुरुषार्थ है, पाथेय है। रोग विषाद है, विकार है, विघटन है; विराम है, विक्षोभ है, विनाश है; विस्मृति है, विसंगति है, विसर्जन है; प्रवंचना है, प्रमाद है, प्रहार है। स्वास्थ्य फूल है, रोग काँटा; स्वास्थ्य वसंत है, रोग पतझड़; स्वास्थ्य प्रकाश है, रोग अंधकार; स्वास्थ्य वरदान है, रोग अभिशाप; स्वास्थ्य पुण्य है, रोग पाप। नियत नियमों का नियमित पालन न करना पाप है, इसी से रोग होते हैं। पाप या पुण्य का जन्म आत्मिक भावों से ही होता है परन्तु उनका प्रभाव शारीरिक भावों पर भी बहुत पड़ता है। शरीर शरीरि के जितना नजदीक रहे उतना स्वस्थ (स्वे आत्मनि स्थितः) रहता है, जितना दूर रहे उतना रुग्ण रहता है। साथ रहने का अर्थ आवश्यक रूप से नजदीक रहना नहीं होता; साथ रहकर भी दूर रह सकते हैं, इसी का नाम तो प्रज्ञापराध है। वैसे तो प्रज्ञा आत्मिक भाव है और प्रज्ञा अपराध करे यह संभव नहीं। जो अपराध करे वह प्रज्ञा नहीं। अतएव प्रज्ञापराध का अर्थ है कि कुछ अवरोधक स्थितियों के कारण प्रज्ञा कार्य नहीं कर पाती और इन अवरोधक स्थितियों को मन उत्पन्न करता है। इसलिए रोग मन इकट्ठा करता है, हम इकट्ठा करते हैं।

जीवन के लक्षणों का जो चार्ट इससे पूर्व दिया जा चुका है उसे स्मरण करें। चेतना से जो स्फुरण होते हैं वे सदा-सर्वदा-सर्वथा सच्चे होते हैं और उन्हें धृति-बुद्धि-स्मृति से होकर अहंकार (मन) तक पहुँचना होता है। मानसिक या आत्मिक भाव शारीरिक भावों से मन के स्तर पर जुड़े हैं। मन इस जन्म और पूर्वजन्म के संस्कारों का संवाहक है और उनसे प्रेरित भी होता है। वह लोभ, क्रोध और मोह आदि (संस्कारों) से प्रेरित होता है और चेतना से जो स्फुरण धृति-बुद्धि-स्मृति से गुजरकर उस तक आये थे उनकी अनदेखी कर देता है जिससे शरीर और शरीरि के बीच दूरी हो जाती है, इसी स्थिति का नाम प्रज्ञापराध है जो रोग का मूलभूत कारण होता है।

वस्तुतः रोग का प्रारंभ बहुत गहराई में मानसिक या आत्मिक इकाइयों से होता है; दोषों के मानसिक लक्षणों में विकृति आने से होता है। शारीरिक दोषों के मानसिक लक्षण निम्नलिखित हैं :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वात—उत्साह
पित्त—प्रभा, प्रसाद, मेधा
कफ—क्षमा, धृति, अलोभ

रोग हम बाहर से इकट्ठा करते हैं। अतः विकार की गति बाहर से भीतर की ओर होती है और रोग की व्यक्ति भीतर से बाहर की ओर। मन यह गड़बड़ करता है। मन अहंकार है, अहंकार में कामना है, कामना में लोभ है और इस प्रकार सर्वप्रथम कफ का मानसिक पक्ष 'अलोभ' बिगड़ता है, लोभ उत्पन्न होता है (मिथ्या आहार-विहार, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग)। पश्चात् धृतिभ्रंश होता है। यह प्रज्ञापराध हुआ। फिर क्षमा नष्ट हो जाती है। जब तक क्षमा है, तब तक कोई तनाव (Strain & Stress) नहीं हो सकता है। क्षमा का अर्थ ही यह है कि प्रतिकूल परिस्थितियों से भी स्वयं में कोई क्षोभ न हो। क्षोभ असुरक्षा की भावना का द्योतक है। अतः क्षमा का अभाव सूक्ष्मस्तर पर असुरक्षा की उपस्थिति का सूचक है और तब मेधा पर प्रभाव पड़ता है। असुरक्षा का निर्धारण और निराकरण मेधा करती है। इसी स्तर पर रोगोत्पादक प्रक्रियाओं के प्रति रोगप्रतिबंधकबल की प्रतिक्रिया होने लगती है, Host-Agent Reaction होता है, ओज पर प्रभाव पड़ता है। व्याधिप्रतिबंधकत्व बल कार्य करने लगता है। यह बल हारा और रोग आगे बढ़ा तो प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता नष्ट होने लगती है और प्रभा पर प्रभाव पड़ने लगता है। प्रभा पर प्रभाव पड़ना ही रोग का पूर्वाभास है, रोग की मानसिक परछाईं है, होने वाले रोग का संकेत है। प्रभा के नष्ट होने के बाद उत्साह-हानि हो जाती है। तीनों शारीरिक दोषों के सभी मानसिक लक्षणों या भावों की सारी श्रृंखला टूट जाती है। उत्साह वायु का मानसिक भाव है अतः उत्साह-हानि होने पर वायु का मुख्य शारीरिक लक्षण (गति) विकृत हो जाता है—'धातुगतिः समाः, समो मोक्षो गतिमताम्', बिगड़ जाता है और चयावस्था प्रारंभ हो जाती है जो प्रकोप-प्रसर-स्थानसंश्रय-व्यक्ति-भेद इन अवस्थाओं से गुजर कर रोग उत्पन्न कर देती है।

रोग की बहुत लम्बी यात्रा है और इस लम्बे रास्ते पर उसे योग और आयुर्वेद द्वारा कहीं भी रोका जा सकता है (Preventive aspect)। प्रस्तुत पुस्तक में रोगोत्पादक शारीरिक भावों और प्रक्रियाओं का विशद विवेचन है। परन्तु मानसिक भाव भी किसी तरह कम महत्वपूर्ण नहीं, यह स्पष्ट करने के लिए ही पूर्वोक्त पंक्तियाँ लिखी हैं। योग आयुर्वेद का अविभाज्य अंग है। योग से मानसिक भावों को अपने स्वभाव में स्थित रखा जा सकता है जिससे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वास्थ्य वना रहे और उत्पद्यमान रोग को रोका जा सके। शारीरिक भावों के बीच समत्व, मानसिक भावों के बीच ममत्व और शारीरिक तथा मानसिक भावों के वीच समयोगवाहित्व ही स्वास्थ्य का आधार है और एतद्विपरीत स्थितियाँ रोग को जन्म देती हैं। सृष्टि त्रिगुणात्मक हैं, गुण परस्पर

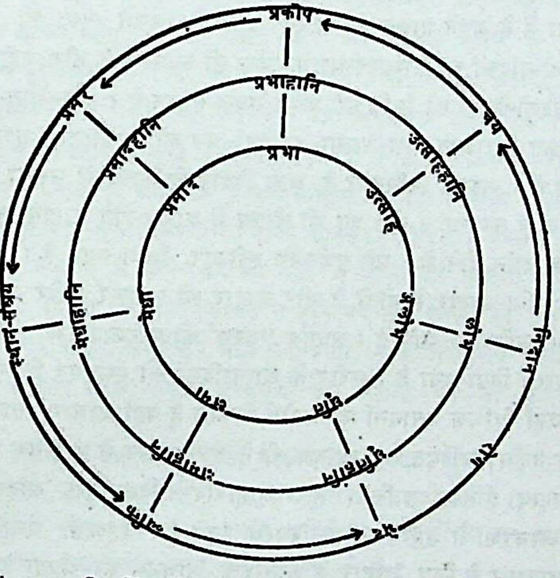

विरोधी हैं अतः सृष्टि में सभी चीजें सापेक्ष हैं। शरीर के सभी क्रिया-कलाप सापेक्ष हैं। जीवन के प्रारम्भ में जन्म और अन्त में मृत्यु है अतः जीवन प्रति क्षण जन्म और मरण का सापेक्ष सानुपातिक सह-अस्तित्व है (Anabolism + Ketabolism + Coordination)। दोष-धातु-मलों का अंजलि-परिमाण और अंग-प्रत्यंगों का अंगुलि-परिमाण प्राकृत मापदण्ड है जिनकी अपेक्षा कम या अधिक होना रोग है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साम्यं प्रकृतिरुच्यते

दोष, धातु और मल तथा आत्मा, इद्रियाँ और मन शरीर के घटक हैं। स्वस्थावस्था में ये अपने प्राकृत कर्म करते रहते हैं जिससे सुख की प्राप्ति होती है। दोषादिकों का साम्यावस्था में रहना ही स्वास्थ्य है और वही धनैषणा एवं परलोकैषणा की सिद्धि का प्रथम सबल साधन है। दोष–धातु–मलों को अपेक्षाकृत स्थूलभाव तथा आत्मा–इन्द्रियाँ–मन को अपेक्षाकृत सूक्ष्मभाव कहा जाता है। आत्मा निर्विकार है, अतः निदान-चिकित्सा में उसका दोषादिकों की तरह सम्बन्ध न होते हुए भी चैतन्य में कारण होने से, तथा आयुर्वेद के आस्तिक दर्शन होने से, उसे पूर्णरूपेण स्वीकार किया गया है। शरीरघटकों की पुष्टि आहार से होती है और आहार को पचाकर शरीर के अनुकूल बनाना अग्नि का कार्य है। अतएव 'स्वस्थ' की परिभाषा में 'समाग्नि' को भी महत्व दिया गया है। शरीर के धात्वादिकों को पुष्ट एवं स्थिर रखने के लिए जहाँ विभिन्न रसायनों का प्रयोग मिलता है वहाँ आचार रसायन का भी सुन्दर वर्णन उपस्थित कर शास्त्रकारों ने अप्रत्यक्षरूप से मानसिक रसायन का भी महत्व प्रतिपादित किया है। आहारविधि-विधानयुक्त आहार एवं अपेक्षित आचरणों से शरीर एवं मन स्वस्थ रहते हैं। स्पष्टतः मनादिभावों की स्वस्थावस्था के लिए, आहार के अतिरिक्त, आचरण की श्रेष्ठता एवं तद्विषयक कर्तव्यों का पालन भी आवश्यक है। अतः केवल सुन्दर, सुव्यवस्थित एवं शरीरोपयोगी आहार से ही हम जन-स्वास्थ्य की सुव्यवस्था की घोषणा नहीं करते हैं। मानव के केवल शरीर को दृढ बनाना और उसके मनादि भावों को दुर्बल या असंयत छोड़ देना अनायुर्वेदीय सिद्धान्त है। मानसिक असन्तुलन एवं तज्जन्य वैयक्तिक या सामाजिक कार्य जन-मानस के अस्वास्थ्य के सूचक हैं। हितायु, अहितायु तथा सुखायु एवं दुःखायु इस प्रकार आयु के विभाग कर व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, वैयक्तिक एवं सामाजिक कार्यकलापों का परस्पर सुदृढ सम्बन्ध स्थापित किया गया है। दोषादि एवं मनादि भाव एक ही शरीर में रहकर एक-दूसरे को अनुगृहीत एवं प्रभावित करते हैं। इन सबकी साम्यावस्था बनाकर व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखना आयुर्वेद का प्रथम सिद्धान्त है। एतदर्थं विविध प्रकार के स्वस्थवृत्त-परक नियमों का वर्णन मिलता है। वैकारिक अवस्थाओं में भी शारीरिक व्याधियों में मानसिक कारण तथा लक्षण और मानसिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याधियों में शारीरिक कारण तथा लक्षण कई स्थलों पर वर्णित हैं। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक भावों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

अपेक्षाकृत स्थूल भावों को रोगोत्पत्ति एवं चिकित्सा के प्रकरणों में भी सरलतया समझाये जा सकने के कारण उनको विशिष्ट महत्व देने के लिए ही 'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्' कहा गया है। स्वभावतः वात-पित्त-कफ ये दोष विकृत होकर धातु, उपधातु और मलों को दूषित करते हैं। अतः विकृतिपरक दृष्टिकोण से दोषों को एक श्रेणी में तथा धातु, उपधातु और मलों को दूष्यों की श्रेणी में रखा गया है। वात-पित्त-कफ शारीरिक दोष हैं, रज और तम मानसिक दोष हैं। सत्त्वगुण न तो विकृत होता है और न विकृति उत्पन्न करता है, अतः उसे मानसिक दोषों में नहीं गिनाया गया है। शारीरिक और मानसिक विकारों का दोषों के स्तरपर परस्पर सम्बन्ध बताने के लिए रज की वायु से और तम की कफ से समानता बतायी गयी है। सत्त्वगुण स्वयं विकृत या विकारकारक न होने पर भी आवृत हो सकता है जिससे वह अपने प्राकृत कर्मों को नहीं कर पाता, अतः मानसिक रोगों या लक्षणों की व्याख्या करते समय सत्त्वगुण की स्थिति को भी ध्यान में रखते हैं।

धातुएँ सात हैं—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र। उपधातुओं में स्तन्य, आर्तव, कण्डरा, सिरा, वसा, त्वक् तथा स्नायु आते हैं। मलों में पुरीष, मूत्र तथा स्वेद प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त धातुओं के मल यथा—कफ, पित्त, स्नेह, केश, लोम, नख, श्मश्रु आदि भी हैं।

दोष	धातु	मल
१. संख्या—तीन	सात	मुख्यतः तीन (अन्यथा अनेक)
२. व्याधि-सम्बन्ध-दोष	दूष्य	दूष्य
३. रसाग्नि—नहीं होती	होती है	नहीं होती
४. अन्योन्यान्तरण—नहीं होता	होता है	नहीं होता
५. परिभाषा—'दूषणाद् दोषाः'	'धारणात् धातवः'	'मलिनी करणात् मलाः'

धातु	उपधातु	मल
१. रस	स्तन्य, आर्तव	कफ
२. रक्त	कण्डरा, सिरा	पित्त
३. मांस	वसा, त्वक्	कर्ण, मुख, नासिका, रोमकूप तथा जननेन्द्रियों का मल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४. मेद	स्नायु	स्वेद
५. अस्थि	—	केश, नख, लोम
६. मज्जा	—	शरीर का स्नेह तथा नेत्रमल
७. शुक्र	—	—

ऊपर दी गई तालिकाओं में उदक, ओज तथा लसीका छूट जाते हैं, परन्तु इनको भी दूष्यों में स्वीकार किया गया है। बल का विशेष आधार धातुएँ है और ओज सभी धातुओं का सारभूत अंश है, अतएव ओज को बल भी कहा गया है। प्रमेह तथा पाण्डु आदि रोगों में ओज की दुष्टि स्पष्टोक्त है। अतः ओज को भी दूष्यों के क्षेत्र में लेते हैं। कई शास्त्रकारों ने ओज को उपधातु या मल के रूप में भी स्वीकार किया है। शरीर में उदक सर्वाधिक मात्रा में रहने वाला भाव है जिसकी गणना स्पष्टतः दोष-धातु-मलों में नहीं की गयी है, क्योंकि यह सभी स्थूल घटकों में, विशेषतः रस, रक्त, लसीका, मूत्र और स्वेद में रहता है। कोष्ठस्थ रहने तक इसे उदक कहना चाहिए; धातुओं में रहने पर यह क्लेद कहलाता है; और यही उदक जब मूत्रवह-स्रोतस में जाता है तब मूत्र कहलाता है; जब स्वेदवहस्रोतस में जाता है तब स्वेद कहलाता है और जब त्वचा के विदीर्ण होने पर निकलता है तब लसीका कहलाता है। संघटक तत्वों एवं स्रोतों की विभिन्नता होने से उदक के ये विभिन्न स्वरूप या परिणतियाँ बतायी गयीं हैं। क्योंकि उदक का कार्य क्लेदन है अतएव मूत्र तथा स्वेद के भी 'क्लेदवाहनम्' 'क्लेदविधृति' कार्य बताये गये हैं। रस, रक्त और लसीका भी क्लेदन का कार्य करते हैं। इस उदक की दूष्यरूपेण दुष्टि प्रमेह, तृष्णा, जलोदर, अतिसार आदि व्याधियों में स्पष्टोक्त है। इस प्रकार उदक को भी दूष्यों की श्रेणी में लिया जाता है।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, सभी दोषादिकों का पोषण आहार से होता है। आहार का पाचन महास्रोतस में अग्नि से होता है। मुख से लेकर गुदा तक की रचना को महास्रोतस कहते हैं। कहीं इसे कोष्ठ नाम से भी कहा गया है। इस महास्रोतस में अन्नवहस्रोतस तथा पुरीषवहस्रोतस समाविष्ट हैं। इसी महास्रोतस में दोषों के मुख्य स्थान निश्चित किये गये हैं। आमाशय कफ का स्थान, ग्रहणी पित्त का स्थान और पक्वाशय वायु का स्थान बताया गया है। यहाँ से ये दोष अपने अन्य भेदों को भी अनुगृहीत करते हैं। इन स्थानों का आहार-पाचन, पोषक दोषों तथा सम्प्राप्ति की चयावस्था के साथ विशेष सम्बन्ध है। महास्रोतस में होनेवाली विभिन्न घटनाओं को नीचे दर्शाया गया है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आमाशय—१. प्राणवायु द्वारा अन्न-क्षेपण।
२. कफ-स्थान।
३. आहार-पाचन की मधुरीभाव की अवस्था।
४. फेनभूत कफ (पोषक कफ) की उत्पत्ति।
५. अन्न का किंचित् अम्लीभवन।

ग्रहणी—१. समान वायु की सहायता से अन्न का ग्रहणी द्वारा ग्रहण।
२. पित्तस्थान।
३. आहार-पाचन की अम्लीभाव की अवस्था।
४. अच्छपित्त (याकृतिक पित्त) का उदीरण।
५. पोषक पित्त की उत्पत्ति।
६. आहार का प्रायः पूर्ण पाचन।
७. सार-किट्ट विभजन।
८. आहाररस का शोषण।
९. किट्टभाग का पक्वाशय के प्रति मुञ्चन।

पक्वाशय—१. मलधराकला द्वारा जलीयांश का शोषण तथा मल का परिपिण्डित होना।
२. वातस्थान।
३. आहार-पाचन की कटुभाव की अवस्था।
४. पोषक वायु की उत्पत्ति।
५. अपान वायु की सहायता से पुरीष का मलाशय के प्रति गमन और पश्चात् गुदा द्वारा बहिर्गमन।

यद्यपि पाचन का मुख्य कार्य पित्त के उष्णगुण से होता है और पित्त मध्यस्थ है तथापि इसकी ऊष्मा का प्रभाव ऊपर और नीचे भी पड़ता है जिससे आमाशय तथा पक्वाशय में भी कुछ पाचन का कार्य होता है। मुख्य पाचन ग्रहणी में ही होता है। पाचन होने पर आहार सार और किट्ट में विभक्त होता है। सारभाग को आहाररस कहते हैं। इसका शोषण कई धमनियों (स्रोतों) द्वारा होता है। यह आहाररस तत्तद् स्रोतों द्वारा तत्तद् धातुओं तक पहुँचता है। धातुएँ उसमें से अपने उपयुक्त अंश (पोषकभाव) ग्रहण कर लेते हैं जिन पर तत्तद् धात्वग्नि कार्य करती है और इस प्रकार धातुओं का निर्माण (पोषण) होता है। आहार रस के शोषित हो जाने पर बचे हुए भाग (किट्ट) में से मलधराकला उदक का शोषण कर लेती है। उदक की यहाँ से शोषित राशि और अंश ही (पोषक मूत्र) मूत्र का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्माण करते हैं। रस और रक्त के साथ रहने वाला उदक (क्लेद) आहार रस के साथ शोषित उदक है और मलधराकला द्वारा शोषित उदक भी शरीर में परिभ्रमण कर मूत्रमार्ग से बाहर निकलता है। १० अंजलि उदक में से ४ अंजलि उदक मूत्र द्वारा बाहर निकलता है। पोषक मूत्र के शोषित होने के बाद पुरीष अपानवायु द्वारा मलाशय में भेजा जाता है जहाँ से वह गुदा द्वारा बाहर निकल जाता है।

जो भाव शरीर में है उन्हें पोष्य (स्थायी) कहते हैं और आहार से उनके पोषणार्थ जो भाग ग्रहण किये जाते हैं उन्हें पोषक (अस्थायी) कहते हैं। इस आधार पर ही पोष्य दोष, पोषक दोष, पोष्य धातु, पोषक धातु तथा पोष्य मल एवं पोषक मल ये नाम दिये गये हैं।

दोषों की रस-गुणात्मक समीक्षा

मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय—इन छः रसों के साथ दोषों का सम्बन्ध नीचे दी गई तालिका द्वारा स्पष्ट हो जाता है—

गुण	रस	वर्धक	शामक
स्निग्ध, गुरु, शीत	मधुर	कफ	वात, पित्त
,, ,, उष्ण	लवण	कफ	,,
,, लघु ,,	अम्ल	पित्त	,,
,, ,, ,,	कटु	वात, पित्त	कफ
रूक्ष, लघु, शीत	तिक्त	,,	,, पित्त
,, ,, ,,	कषाय	,,	,, ,,

इस तालिका से एक बात स्पष्ट है कि केवल कफ को बढ़ाने वाला मधुर रस तथा केवल कफ को शान्त करने वाला कटुरस है। इसी प्रकार तिक्त और कषाय केवल वातवर्धक तथा लवण और अम्ल केवल वातशामक हैं। रसों के केवल एक दोष पर प्रभाव देखने के इस दृष्टिकोण से केवल पित्त-वर्धक या पित्तशामक एक भी रस नहीं है; ये वातपित या कफपित-वर्धक या शामक हैं। यह इसलिए कि षट्रस युक्त आहार जब महास्रोतस में जाता है तब उसका पाचन पित्त (अग्नि—ऊष्मा) से होता है और यह सारी पाचन-क्रिया विभिन्न स्थलों पर विभिन्न माध्यमों से होती है। यह माध्यम उष्णगुण के कार्य करने में सहायक होता है, अतः प्रथम मधुररस का मृदु एवं मन्द पाचन प्रारम्भ होता है, कारण कि वह शीत है जो कि उष्ण के विपरीत है। पश्चात् लवणरस का उष्णगुण सम्मुख आता है और इसीलिए कफ स्थान आमाशय में भी पाचन की प्रक्रिया कुछ द्रुततर हो जाती है और मधुरीभाव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की अवस्था अम्लीभाव में परिणत होने लगती है। ग्रहणी में, जो कि पित्त का अपना स्थान है, अम्लगुण, उष्णगुण एवं आहार की अम्लीभाव की अवस्था पाचन का सुन्दर माध्यम तैयार करते हैं, अतः इसी स्थानपर प्रायः पूर्ण पाचन हो जाता है। पक्वाशय में भी कुछ सीमित अंश में पाचन होता है, तदर्थं उष्णगुण युक्त कटुरस माध्यम को बनाये रखता है। पश्चात् शीतगुण युक्त कषाय-तिक्त पाचनकर्म के लिए अनुकूल वातावरण नहीं रहने देते, साथ ही आहार के पूर्ण पाचन हो जाने के कारण भी पाचन-प्रक्रिया रुक जाती है। इस प्रकार आहार-पाचन की प्रक्रियाओं में कफ और वात अप्रत्यक्ष रूप से पित्त की सहायता करते हैं और इनकी विकृति से अग्नि मंद हो जाती है; निदान से या पित्त के स्वयं क्षीण होने पर तो अग्नि मंद होती है। इस प्रकार प्रायः सभी रोगों में अग्निमांद्य की कल्पना की गई है। सभी धात्वग्नियाँ कोष्ठाग्नि से पोषित एवं प्रभावित होती हैं। अतः धातुओं में भी पाचन (धातु-पाक) की प्रक्रिया को नियमित रखने के लिए रस-गुणात्मक माध्यम चाहिए। वहाँ भी 'उष्ण' का विशेष महत्व है, क्योंकि धातुपाक न्यूनाधिक मात्रा में सदा चलता रहता है जिससे शक्ति बनी रहती है। इस दृष्टिकोण से भी मधुर तथा लवण का विपाक मधुर बनाकर लवण (उष्णगुण) को, अम्ल का विपाक अम्ल (उष्णगुण) ही बनाकर तथा कटु, तिक्त, कषाय का विपाक कटु (उष्णगुण) बनाकर कटु को परिष्कृत रूप में उपस्थित किया गया है। रसात्मक दृष्टिकोण से विचार करने पर सभी धातुओं के पोषणांशों में मधुर रस अवश्य और अधिक रहता है। अतः चरक ने (सूत्रस्थान,२६) मधुर रस के कार्यों में ही 'तत्र मधुरो रसः शरीरसात्म्याद् रस-रुधिर-मांस-मेदोस्थि-मज्जौजःशुक्राभिवर्धन आयुष्यः षडिन्द्रियप्रसादनः बलवर्णकरः' लिखकर धातु-पोषण-निर्माण में मधुररस को महत्त्व दिया है। मधुरभावों का धात्व-ग्नियों द्वारा ठीक पाचन हो, एतदर्थं लवणों की आवश्यकता रहती है। मधुर-भावों में धातुपोषक सभी भाव गृहीत हैं। यह निर्माणात्मक या पोषणात्मक प्रक्रिया है। परन्तु शरीर में धातुओं से शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे हम अपना दैनन्दिन कार्य करते हैं। इस प्रक्रिया (Ketabolism) में भी अग्नियों का कार्य है जो कि अम्ल और कटु भावों से नियमित रहता है। इस प्रकार रसों का दोषों से, दोषों का आहारपाक तथा धातुपाक से और इन सब का अग्नि से सम्बन्ध स्थापित कर प्रकृति और विकृति में अग्नि का महत्त्व प्रति-पादित किया जाता है। सभी धातुओं के पोषण के लिए आहार-रस का स्रोतों द्वारा निर्बाधरूप से धातुओं तक पहुँचना भी अत्यन्त आवश्यक है। स्रोतों में खवैगुण्य उत्पन्न होने पर ही पूर्णसम्प्राप्तिपूर्वक रोग उत्पन्न होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार वातादि शारीरिक दोषों तथा रजादि मानसिक दोषों का, रस-रक्तादि तथा मूत्र-पुरीषादि दूष्यों का, स्रोतों का एवं अग्नि का सम्यक् कार्य होने पर स्वास्थ्य बना रहता है और इनमें विकृति आने पर रोग उत्पन्न होते हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि चिकित्स्य पुरुष सत्त्व, आत्मा और शरीर का सामूहिक रूप है जिसकी व्याख्या केवल भौतिक, रासायनिक या लाक्षणिक अथवा द्रव्यतः, गुणतः, कर्मतः मात्र से ही पूर्णतः नहीं की जा सकती है। उसका सत्त्व और आत्मा भी कुछ है जिनका विचार करना होता है। सरलता के लिए स्थूलभावों से विचार प्रारम्भ करना बुरा नहीं है, परन्तु सूक्ष्मभावों को भुला देना ठीक नहीं है। अतएव मनुष्य की प्राकृतिक एवं वैकारिक अवस्थाओं को समझना कठिन कार्य है। परन्तु सरलता के लिए दोष, धातु, मलादिकों को वर्गों के रूप में स्वीकृत कर शास्त्र को समझने का प्रयत्न किया जाता है।

द्रष्टव्य स्थल

१. विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ च० सू० ९।४

२. निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ च० सू० १।५६

३. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ सु० सू० १५।४८

४. आचार-रसायन—च. चि. अध्याय १, पाद ४, श्लोक ३०-३५

५. हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। च. सू. १।४१

६. धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्। च. सू. १।५३

७. दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्। सु. सू. १५।३

८. वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसङ्ग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ च. सू. १।५७

९. रसासृक् मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः। अ. हृ. सू. १।१३

१०. रसात् स्तन्यं ततो रक्तं, असृजः कण्डराः सिराः।
मांसाद् वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः ॥ च. चि. १५।१७

११. कफः पित्तं मलः खेषु स्वेदः स्यान्नखरोम च।
नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः ॥ सु. सू. ४६।५३६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१२. रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोथ विशदः खरः ।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति ॥ च. सू. १।५९

१३. सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु ।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥ च. सू. १।६०

१४. गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥ च. सू. १।६१

१५. स्वाद्वम्ललवणा वायुं कषायस्वादुतिक्तकाः ।
जयन्ति पित्तं श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः ॥ च. सू. १।६६

१६. अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसङ्घा पृथक् विधाः । च. नि. १३।९

१७. मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति ।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः ॥ च. वि. २।९

१८. सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥ च. सू. १।४६-४७

१९. आमाशयगतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम् ।
पक्वः सर्वाश्रयं पश्चाद्धमनीभिः प्रपद्यते ॥ च. वि. २।१८

"In all civilised countries, more and more attention is now being paid to maintenance of health, a far different problem from diagnosis and treatment of ill health."

"Further, the form of physiologic study must apply to man, living and working day by day, rather than to basal conditions, the use of which has become almost a fetish with investigators in this field; in the persuit of accuracy, they have often lost touch with reality."

Pathologic Physiology-Sodeman
Third edition, page-321

"Just as the physical growth of each person depends on an adequate and balanced supply of appropriate food stuffs, so does emotional growth depend on the receipt of proper psychologic nutrients."

"Just as invading bacteria influence multitudinous boily reactions, so do emotions possess the capacity to exert force

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

and, thereby, alter behaviour including certain of the biochemical processes of the body."

Principles of Internal Medicine, Page 3
Harrison/Fifth edition
International students edition.

"The patient is no mere collection of symptoms, signs, disordered functions, damaged organs and disturbed emotions. It is human, fearful and hopeful, seeking relief, help and assurance."

Ibid, Page 5

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विकारो धातुवैषम्यम्

दोषादिकों का प्राकृत परिमाण में एवं प्राकृत गुणयुक्त रहकर प्राकृत कर्म करते रहना साम्यावस्था है; इसी को स्वास्थ्य कहते हैं। इनका विषम होना ही 'रोग' है। यह वैषम्य दो प्रकार का बताया गया है—क्षय और वृद्धिः 'दोष-धातु-मलों' के क्षय और वृद्धि के लक्षण वर्णित हैं। 'समाः पालयितव्या क्षीणाः वर्धयितव्याः' तथा 'वृद्धाः ह्रासयितव्याः' से सम दोषादिकों को साम्यावस्था में बनाये रखना तथा बढ़े हुए दोषों को घटाकर और घटे हुए दोषों को बढ़ाकर साम्यावस्था में लाना आयुर्वेद का सिद्धान्त है। 'सामान्यं वृद्धिकारणम्' से वृद्धि करके और 'ह्रासहेतु' से क्षय करके क्षीण एवं वृद्ध दोषों की साम्यावस्था बनायी जा सकती है। इन सब वर्णनों से प्राप्त वैषम्य के ज्ञान का निदान एवं चिकित्सा में उपयोग (Applied aspect) देखना होगा। इसे स्पष्टरूप में सरलतया समझने के लिए कुछ स्थापनाएँ की जा रही हैं—

१. रोगोत्पत्ति में बढ़े हुए दोषों का ही कर्तृत्व है, क्षीण दोषों का नहीं। दोपक्षय को एकस्थानीय, आवरणजन्य या आहारसम्पदाभावजन्य ही समझना चाहिए।

२. रोगों में धातुओं का क्षय ही रहता है। रोगों में धातु-वृद्धि एकस्थानीय ही होती है। मलों के साथ भी यही बात है। इस स्थापना में कुछ अपवाद भी हैं।

रोगोत्पत्ति में बढ़े हुए दोषों का ही कर्तृत्व

(१) सम्प्राप्ति के बिना रोग नहीं होता है और सम्प्राप्ति चय से प्रारम्भ होती है। चय बढ़े हुए दोषों का ही सम्भव है, क्षीणदोषों का नहीं। दोषों का चय उनके कोष्ठस्थ स्थानों में होता है। अचय प्रकोप से भी अल्पकाल में या अल्पमात्रा में चय ही समझा जाता है।

(२) श्वास, कास, ज्वर आदि जितने भी रोगों का शास्त्रों में वर्णन मिलता है, उनमें मुख्य दोषों को देखने पर और उन रोगों के निदानों का उन दोषों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसका विचार करने पर एक भी रोग ऐसा नहीं है जिसके निदानों से उस रोग को उत्पन्न करने वाले दोष का क्षय हो सके। रोगों के वातिक-पैत्तिक-कफज आदि भेदों के निदानों से भी दोषों की वृद्धि ही हो सकती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) चरक ने वायु के नानात्मज विकारों को बताकर 'तं मधुराम्ल-लवणस्निग्धोष्णैरुपक्रमैरुपक्रमेत' लिखा है। इसी प्रकार पित्त के नानात्मज विकार बताकर 'तं मधुर-तिक्त-कषाय-शीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत' और कफ के नानात्मज विकार 'तं कटु-तिक्त-कषाय-तीक्ष्णोष्ण-रूक्षैरुपक्रमैरुपक्रमेत' लिखा है। नानात्मजविकार एक ही दोष से उत्पन्न होने वाले विकार हैं। उन विकारों की उत्पत्ति उस दोष के बढ़ने पर ही होती है, अतएव उनकी चिकित्सा में उस दोष को शान्त करने वाले उपाय ही बताये गये है; उस दोष को बढ़ाने वाला एक भी उपाय नहीं बताया गया है।

(च० सू० २०।१३, १६, १९)

(४) चरक ने मधुरादि रसों के कार्यों एवं उनसे उत्पन्न होने वाली व्याधियों को बताया है (च० सू० २६)। वहाँ पर 'मधुरो रसः कफजान् विकारानुपजनयति', 'लवणो रसः पित्तजान् विकारानुपजनयति' तथा 'कटु (तिक्तकषाय) रसः मारुतजान् विकारानुपजनयति' लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि मधुरादि रस जिन दोषों को बढ़ाते है उन्हीं से सम्बन्धित रोगों को उत्पन्न करते हैं; किसी दोष को घटाकर रोग उत्पन्न नहीं करते।

(५) चाहे वे सामान्यज विकार हों या नानात्मज विकार, सबकी चिकित्सा में संशोधन और संशमन बताये गये हैं। स्पष्टतः संशोधन या संशमन वृद्धदोषों का ही हो सकता है, क्षीणदोषों का नहीं। किसी भी रोग के प्रकरण में एक भी चिकित्सा किसी भी दोष को बढ़ाने की नहीं बतायी गयी है।

(६) मिथ्या आहार से तो रोगों के प्रकरण में दोषवृद्धि स्पष्ट है। मिथ्या विहार से भी दोषों की वृद्धि ही बतायी गयी है, यथा—दिवास्वप्न और अचिन्ता से कफ की वृद्धि, रात्रि-जागरण, अत्यध्वगमन एवं वात-सेवन से वातवृद्धि तथा धूप में चलने या अग्नि के सेवन से पित्तवृद्धि बतायी गयी है।

(७) मानसिक कारणों से भी दोषों की वृद्धि ही बतायी गयी है, यथा—चिन्ता एवं शोक से वातवृद्धि, क्रोध के पित्तवृद्धि आदि।

(८) चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु।
वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु ॥ अ० हृ० सू० १२

इस से भी ऋतुओं के साथ दोषों के चय, प्रकोप और प्रशम का ही सम्बन्ध बताया गया है; दोषों पर ऋतुओं के क्षयात्मक प्रभाव का संकेत नहीं मिलता है।

(९) रोगों के उपद्रवों या असाध्य लक्षणों से भी दोषवृद्धि का ही सम्बन्ध बैठता है, दोषक्षय का नहीं। किसी भी रोग में इसे देखा जा सकता है। रोगावस्था में या अन्यथा भी धातुक्षय से वात की वृद्धि ही बतायी गयी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१०) महर्षि चरक ने १३ प्रकार के ऐसे सन्निपातों का भी वर्णन किया है जो कि दोषवृद्धि से ही होते हैं। च० सू० १७।

पूर्वोक्त आधारों पर निदान और चिकित्सा के दृष्टिकोण से रोगों में दोषवृद्धि का ही महत्त्व परिलक्षित होता है। परन्तु शास्त्रों में सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर दोषक्षय को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है जितना दोषवृद्धि को, ऐसा क्यों ? इसके अतिरिक्त दोषक्षय का निदान-चिकित्सा में कुछ महत्त्व है या नहीं ? ऐसे प्रश्न स्वाभाविक हैं। 'वैषम्यं हि पुनर्धातूनां वृद्धिह्रासगमनम्' से दोषों के क्षय के लक्षणों को वर्णित करने से, 'क्षीणाः वर्धयितव्या' से, 'ह्रासहेतुर्विशेषश्च' से तथा चरक-सूत्रस्थान १७वें अध्याय में क्षीण, सम एवं वृद्धभावों का रोग के साथ सम्बन्ध स्थापित करने से दोषक्षय को शास्त्र में महत्त्व अवश्य दिया गया है, परन्तु रोगों के प्रकरणों में इस महत्त्व का या इसकी व्यावहारिक उपयोगिता (Applied aspect) का वर्णन नहीं मिलता है। कारण यह है कि वर्णित रोग दोषदूष्य-सम्मूर्च्छना-जनित हैं, केवल विकृतदोष के लक्षणमात्र नहीं हैं। दोषक्षय का लक्षणों से सम्बन्ध इसलिए है कि अभावजन्य रोगों (Deficiency Diseases) में कुछ दोषक्षय के लक्षण मिलते हैं, दोपवृद्धि के भी मिलते हैं। आगे दोषक्षय की सीमा एवं उसकी उपयोगिता पर विचार करेंगे।

दोषक्षय : अभावज, एकदेशीय या आवरणजन्य

(१) दोषादिकों का आहार (किट्ट) से पोषण होता है। प्रमिताशन, अनशन या आहार सम्पदाभाव के कारण धातुओं के साथ-साथ दोषों पर भी क्षयात्मक प्रभाव पड़ता है। इनसे धातुक्षय के बाद वात-प्रकोप होता है, परन्तु कफ और पित्त के क्षय के लक्षण मिल सकते हैं और सम्यक् आहार लेना ही ऐसी स्थितियों में चिकित्सा है। रोग की व्यापक परिभाषा 'तद् दुःखसंयोगाः व्याधयः' के अनुसार इन क्षयात्मक लक्षणों को भी रोग कह देते हैं। परन्तु लक्षण और रोग में कुछ भी अन्तर करना अभीष्ट हो, जैसा कि होना चाहिए, तो सम्प्राप्तिरहित दोषप्रकोपजन्य लक्षणों को केवल लक्षण और सम्प्राप्ति युक्त (दोषदूष्यसम्मूर्च्छनाजन्य) लक्षणों को रोग (या रोगज्ञापक) कहना चाहिए। इस आधार पर अभावज दोषक्षय से मात्र लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(२) 'सामान्यं वृद्धिकारणम्' तथा 'ह्रासहेतुर्विशेषश्च' सिद्धान्त प्रवृत्ति-पूर्वक हैं, निवृत्तिपूर्वक नहीं। इसलिए आयुर्वेद में स्पष्टतः अभाव को स्वीकृत नहीं किया गया है। चिकित्स्य पुरुष, उसके रोग, औषध आदि सभी भावात्मक हैं और इन्हीं का महत्त्व होने के कारण तथा चिकित्सा में अभाव का अपेक्षा-कृत कम महत्त्व होने से ही अभाव को स्पष्टतः स्वीकार नहीं किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परन्तु प्रमिताशन, अनशन, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग में अयोग तथा हीनयोग, निदान-परिवर्जन एवं अपथ्य-विधान आदि से अप्रत्यक्षतः अभाव को भी स्वीकार किया गया है। अभावजन्य रोगों (Deficiency Diseases) में शरीर में जिन घटकों की कमी होती है उनकी पूर्ति करना ही चिकित्सा है।

(३) 'संग' प्रधान व्याधियों में दोष के एकदेशीय क्षय के लक्षण मिल सकते हैं, यथा—ज्वर में ऊष्मा के द्वारा ज्वरोत्पत्ति और संग के कारण आमाशय में न जा पाने से अग्निमान्द्य व्याख्येय है। दोषक्षय के इस एकदेशीय-क्षय पक्ष से रोगों के लक्षणों को, सम्प्राप्ति को दृष्टि में रखकर, समझाने में तथा रोगविनिश्चय में सहायता मिलती है। अतएव दोषक्षय को भी समान महत्त्व दिया गया है।

(४) दोषों की आशयापकर्ष की स्थिति में भी दोष के एकदेशीय क्षय के लक्षण मिल सकते हैं।

(५) आवरण के प्रकरण में दोष और दूष्यों के विभिन्न आवरणों और उनसे उत्पन्न लक्षणों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आवरण के वृद्धयात्मक लक्षण मिलते हैं और आवृत अपना प्राकृत कर्म नहीं कर पाता है। 'कर्मणः प्राकृताद् हानिर्वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्' आवरण के प्रकरण में ही स्पष्ट परिलक्षित होता है। वहाँ पर भी चिकित्सा तो आवरक की ही की जाती है परन्तु लक्षणसमुच्चय की व्याख्या के लिए वहाँ पर दोषक्षय के लक्षण भी ध्यान में रखने पड़ते हैं। इस प्रकार आवरण के प्रकरण में दोषक्षय के लक्षणों का रोगविनिश्चयात्मक महत्त्व है।

(६) 'अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति' से पित्त और अग्नि में अभेद स्वीकार किया गया है। पित्त के उष्णगुण को ही अग्नि का कार्य करनेवाला स्वीकार करते हैं। (भस्मक और मेदोरोग को छोड़कर) प्रायः सभी रोगों में अग्निमांद्य की स्थिति एवं तद्योतक लक्षण रहते हैं। इस आधार पर अग्निमांद्य से अग्नि (पित्त) का क्षय द्योतित है। अग्नि की प्राकृत स्थिति को बनाये रखने के लिए समुचित आहार का उचित मात्रा एवं काल में उपयोग आवश्यक है। रोग-निदान में आहार का असम्यक् उपयोग बहुत स्थलों पर वर्णित है और उससे कई व्याधियाँ होती हैं। मिथ्या आहार से तथा कुछ मानसिक कारणों से अग्निमांद्य उत्पन्न हो जाता है। मिथ्या आहार-विहार से जिस दोष की वृद्धि होती है उस दोष से भी अग्नि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। मधुर, अम्लादि कुछ रसों के अधिक उपयोग से अग्नि के कार्य के माध्यम (Media) में भी अन्तर आने से पाचन का कार्य ठीक नहीं हो पाता। स्वयं पित्त के द्रव, स्निग्ध एवं अम्लगुण बढ़कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसके उष्णगुण को ठीक कार्य नहीं करने देते हैं। इस प्रकार अग्निमांद्य को दोषक्षय की श्रेणी में रखकर रोगों में उसकी स्थिति को समान महत्त्व देने के लिए भी दोषक्षय को समान महत्त्व दिया गया है। अग्निमांद्य का तो रोग-विनिश्चयात्मक एवं चिकित्सात्मक दोनों महत्त्व है। परन्तु जहाँ अरुचि, अग्निसाद आदि लक्षण कफ या वायु के विकारों में मिलें वहाँ उन्हीं दोषों की चिकित्सा का महत्त्व है। ग्रहणी के प्रकरण (च. चि. १५।२०६-२१०) में कई अवस्थाओं का अग्निमांद्योत्पादक प्रभाव तथा उनकी चिकित्सा बतायी गयी है। उनमें सीधे ही पित्त के उष्णगुण को क्षीण करनेवाली अवस्थायें न होकर दूसरे दोष को बढ़ाकर पित्त (अग्नि) पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली रोगावस्थाएँ हैं। उसी प्रकरण में 'दोषवृद्धया तु मन्देऽग्नौ' कहकर बढ़े हुए दोषों का अग्नि पर प्रतिकूल प्रभाव बताया गया है। उपर्युक्त विवरण से किसी भी प्रकार से उत्पन्न अग्निमांद्य से अग्नि के क्षीण लक्षणों को रोगों की सम्प्राप्ति बताते समय ध्यान में रखा जाता है। यह भी दोषक्षय बताने का एक महत्त्वपूर्ण कारण ज्ञात होता है।

(७) चरक ने सूत्रस्थान १७वें अध्याय में दोष-धातु-मलों के कुछ क्षय-कारक हेतु बताये हैं। उनसे धातुओं पर तो आवश्यकरूप से क्षयात्मक प्रभाव पड़ता है; दोषों पर उनका प्रभाव समझने के लिए तालिका प्रस्तुत है—

	क्षय हेतु	वात	पित्त	कफ	
अभावात्मक कारण	१. रूक्ष अन्नपान	वृद्धि	क्षय	क्षय	धातुक्षयकारक कारण
	२. प्रमिताशन	"	"	"	
	३. अल्पाशन	"	"	"	
	४. अनशन	"	"	"	
स्पष्टतः क्षयकारक	५. कफातिवर्तन	—	—	"	
	६. शोणितातिवर्तन	"	"	"	
	७. शुक्रातिवर्तन	"	—	"	
	८. मलातिवर्तन	"	—	—	
मानसिक कारण	९. चिन्ता	"	"	"	
	१०. भय	"	"	—	
	११. शोक	"	"	"	
प्रभावकारक कारण	१२. वात	"	—	—	
	१३. आतप	—	वृद्धि	"	
	१४. काल	वृद्धि/क्षय	वृद्धि/क्षय	वृद्धि/क्षय	
	१५. भूतोपघात	"	"	"	
	१६. प्रजागरण	वृद्धि	क्षय	क्षय	
	१७. व्यायाम	"	वृद्धि	"	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस तालिका में जो हेतु बताये गये हैं उनसे वात की वृद्धि ही हो सकती है, क्षय नहीं। इसका समाधान श्रीचक्रपाणिदत्त ने 'अत्र वायुक्षयहेतुर्नोक्तो विलक्षणत्वात्, स चाचिन्तनदिवास्वप्नादिभिर्ज्ञेयः; किं वा अनशनात् किट्टाभावः, ततश्च किट्टरूपस्य वातस्याप्यनुत्पादात् क्षयोज्ञेयः' कहकर किसी तरह से भी प्रश्न को शान्त करने का प्रयत्न किया है। इस तालिका में दिये गये अभावात्मक हेतुओं से एवं प्रत्यक्षतः शरीर से बाहर निकलने पर दोषादिकों का क्षय सरलतया व्याख्येय है। अन्य कारणों से भी अप्रत्यक्षतः पित्त और कफ पर क्षयात्मक प्रभाव पड़ सकता है और उससे कुछ अल्पकालिक लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु रोगोत्पत्ति में तो वातवृद्धि होकर ही इनसे रोग हो सकते हैं। इसका स्पष्टीकरण सामान्यज या नानात्मज विकारों के निदानों को देखने से हो जाता है। फिर भी इन हेतुओं से क्षयात्मक लक्षणों की उत्पत्ति में कभी-कभी दोषक्षय व्याख्येय बनता है, अतः दोषक्षय को भी महत्त्व दिया गया है।

(८) द्व्युल्बणैकोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्।
समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश। च. सू. १७।४१.

इस श्लोक में दोषों के हीन-वृद्धयादि क्रम से १३ प्रकार के सन्निपातों का संकेत है। परन्तु इसी से आगे ४५वें से ६१वें श्लोक तक पूर्वोक्त श्लोक के उदाहरणार्थ जो वर्णन मिलता है उसमें आशयापकर्ष तथा संग या आवरण-प्रधान घटनाएँ हैं। एक प्राकृत दोष भी यदि आशयापकर्ष या संग के कारण एक स्थान पर आ जाय या रुक जाय तो तत्रस्थ अपने अंशों को बढ़ाकर यह रोग उत्पन्न करता है। इसमें भी रोग तो दोषवृद्धि से ही होता है परन्तु एकदेशीय क्षय परिलक्षित होता है। इस प्रकरण में चक्रपाणिदत्त की टीका से भी यही बात सुस्पष्ट हो जाती है।

(९) दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं, समाः स्वं कर्म कुर्वते॥ च. सू. १७।६२

'लिङ्गं स्वं जहतीत्यनेन क्षीणानां प्रकृतिलिङ्गक्षयव्यतिरिक्तं विकारकर्तृत्वं नास्तीति दर्शयति। यतो वृद्धा उन्मार्गगामिनो दोषाः दूष्यं दूषयन्तो ज्वरादीन् कुर्वन्ति, न क्षीणाः, स्वयमेव दुःस्थितत्वात्'—चक्रपाणिः। चक्रपाणि के इस मत से असहमति प्रकट करते हुए आचार्य श्रीरामरक्ष पाठक ने अपनी कायचिकित्सा नामक पुस्तक में लिखा है कि 'ऐसे अनेक विकार दोषों के क्षय होने पर ही होते हैं जिनका किसी अन्य दोष की वृद्धि के लक्षणों में वर्णन उपलब्ध शास्त्रों में नहीं मिलता, जैसे—मंद-चेष्टता, अल्पवाक्त्व, अप्रहर्ष,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मूढ़संज्ञता तथा अग्निवैषम्य—ये वातक्षय में ही होते हैं। इसी प्रकार मन्दोष्मता, निष्प्रभता, स्तम्भ और अनियमित तोद ये पित्तक्षय में ही तथा अन्तर्दाह, आमाशयशून्यता, संधिशैथिल्य और श्लेष्माशयशून्यता—ये कफ के क्षय में ही होते है" पृष्ठ १३७। ये लक्षण जिन रोगों में मिलते हैं वे दोष-वृद्धि से होते हैं यथा—अप्रहर्ष ज्वर के पूर्वरूप में, अन्तर्दाह अन्तर्वेग ज्वर में, निष्प्रभता पाण्डु में, स्तम्भ या अनियमित तोद वात-विकारों में आदि। परन्तु जहाँ ये केवल अल्पकालिक लक्षणमात्र हों वहाँ दोषक्षय ही कारण है। आवरण के प्रकरण में तथा संग से भी ये लक्षण एकदेशीय क्षय के रूप में मिल सकते हैं। चक्रपाणिदत्त का भी यही अभिप्राय है कि दोषदूष्यसम्मूर्च्छनाजनित विकारोत्पत्ति में क्षीणदोषों का कर्तृत्व नहीं है, एकदेशीय क्षय के सम्वन्ध में उनका विरोध नहीं हैं।

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रोगोत्पत्ति (दोषदूष्यसम्मूर्च्छना) में वृद्धिगत दोषों का ही कर्तृत्व है, क्षीण दोषों का नहीं। दोषक्षय को अभावज, एकदेशीय या आवरणजन्य समझना चाहिए और रोगविनिश्चय में उसका भी महत्व है।

रोगावस्था में धातुक्षय

(१) धातु-पोषण आहार से होता है। कोष्ठाग्नि आहार को पचाकर आहाररस में परिणत करती है। यह आहाररस कोष्ठ से शोषित होकर सभी धातुओं में जाता है। उसमें से धातुएँ अपना अंश ग्रहण कर लेती हैं जिस पर धात्वग्नियाँ कार्य करती हैं और उसे धातु के अनुकूल बनाती हैं। कोष्ठाग्नि ही धात्वग्नियों को पोषित एवं प्रभावित करती है। प्रायः प्रत्येक रोग में अग्निमांद्य होता है। कोष्ठाग्नि के मन्द होने से धात्वग्नियाँ भी मंद होंगी और धातुओं का पूर्ण निर्माण न होने से धातुक्षय होगा।

(२) सभी धातुओं के क्षय के लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं। उनके आधार पर एक संक्षिप्त पत्रक (Proforma) निम्नलिखित रूप से तैयार किया जा सकता है।

धातुक्षय का संक्षिप्त पत्रक—

१.	स्फिक्, उदर, स्तन, गण्ड	शुष्कता—मांस तथा मेदःक्षय।	
	कार्श्य—	मेदःक्षय।	(अ. सं. सू. १८।१०)
२.	त्वक्रौक्ष्यम्—	रक्तक्षय	(च. सू. १७।६५)
	गात्ररौक्ष्यम्—	मांसक्षय	(सु. सू. १५।८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	मेदःक्षय	(सु. सू. १५।८)
	अस्थिक्षय	,, ,,
३. सिराशैथिल्यम्—	रक्तक्षय	,, ,,
धमनीशैथिल्यम्—	मांसक्षय	,, ,,
४. श्रमः—	रसक्षय	(अ. सं. सू. १९।१०)
	मांसक्षय	(च. सू. १७।६६)
	मेदःक्षय	(अ. सं. सू. १९।१०)
	अस्थिक्षय	(च. सू. १७।६७)
	ओजःक्षय (ओजो विस्रंस)	(सु. सू. १५।२५)
५. संधिस्फुटनम्—मांसक्षय		(च. सू. १७।६७)
संधिशून्यता—मेदःक्षय		(सु. सू. १५।६)
संधिशैथिल्य—अस्थिक्षय		(च. सू. १७।६७)
६. शरीर-भारहानि—सर्वधातुक्षय		

इस पत्रक के आधार पर देखा जाय तो सभी रोगियों में धातुक्षय के लक्षण मिलेंगे। इस पर लेखक ने १०० रोगियों का और पश्चात् श्रीकृष्णदत्त शर्मा ने (१९६९ में) अपने स्नातकोत्तर महानिबन्ध के लिये १०० रोगियों का अध्ययन किया। इस अध्ययन से यह बात स्पष्ट हुई कि रोगावस्था में धातुक्षय अवश्य मिलता है। श्रीगणपतलाल शर्मा ने भी (१९६२ में) अपने स्नातकोत्तर महानिबन्ध में इस सम्भावना की ओर संकेत किया था।

(३) सभी रोगों की सम्प्राप्तियों में दूष्यस्थिति-ज्ञापक वर्णन नहीं मिलता है। जिन रोगों में दूष्यों की स्थिति बताने वाले शब्दों का प्रयोग किया गया है, उन्हें उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्तते।	च. नि.	२।४
२. बह्वबद्धं मेदो मांसम्।	च. नि.	४।७
३. वृद्धेन रक्तेनावारितः।	च. चि.	२६।१०
४. स क्षतः क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्।	च. चि.	११।१२
५. सोल्परक्तः समेदस्कः।	च. चि.	१६।६
६. रसादीनां धातूनां चोपशोषणी।	च. चि.	१७।८
७. अपां क्षयात् हि तृष्णा।	च. चि.	२२।२५
८. तस्य हृदयस्थायी रसः क्षयमुपैति।	च. चि.	६।८
९. तदोपशोष्यासृक्।	च. चि.	२८।३८
१०. रसादींश्चोपशोषयेत्।	च. चि.	२८।६१

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

११. रसनामानमन्ववेत्य ।	च. नि.	१।२०
१२. आर्तवमुपरुणद्धि ।	च. नि.	४।१४
१३. त्वगादयश्चत्वारः शैथिल्यमापद्यन्ते ।	च. नि.	५।६
१४. ओजसो गुणान् संक्षोभ्य ।	च. चि.	२४।२६
१५. शुक्रं सन्दूषयन्त्याशु ।	च. चि.	३०।१३८
१६. दूष्यान् सन्दूष्य रक्तादीन् ।	च. चि.	२१।२२
१७. शोणितादिषु धातुषु अतिप्रदुष्टेषु ।	च. चि.	२१।१६
१८. कफासृक् पित्तानि सन्दूषयतीह वायुः ।	च. चि.	१२।८
१९. सौक्ष्म्याद् असृक् प्रकोपयति ।	च. चि.	२३।२६

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कुछ रोगों में धातुक्षय स्पष्ट लिखा हुआ है, यथा—तृष्णा, पाण्डु आदि। कुछ में धातुदृष्टि या तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है। केवल तीन व्याधियों में दूष्य की वृद्धि बतायी गयी है, यथा—रक्तपित्त, प्रमेह और वातरक्त (१, २, ३ में)। कई व्याधियों में, जिनका यहाँ समावेश नहीं किया गया है, दूष्य की स्थिति को बताने वाले किसी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है, परन्तु उनमें धातुक्षय के लक्षण मिलते हैं। स्पष्टतः रक्तपित्त, प्रमेह और वातरक्त के अतिरिक्त सभी व्याधियों में धातुक्षय की स्थिति रहती है। रक्तपित्तादि में भी चिकित्सा-वर्णन में स्थूल अथवा कृश या बलवान् अथवा दुर्बल इन श्रेणियों में उन रोगियों को वर्गीकृत कर अन्त में दौर्बल्य की अपरिहार्य अवस्था का आभास देकर शास्त्रकारों ने धातुक्षय की स्थिति की ओर अप्रत्यक्ष रूप से संकेत किया है।

(४) पूर्वोक्त आधारों पर रोगावस्था में धातुक्षय सिद्ध होता है। परन्तु अधिकतम व्याधियों में स्रोतोदुष्टि का लक्षण-संग मिलता है जिससे दूष्य की एकदेशीय वृद्धि और अन्यत्र क्षय मिलता है, यथा—अतिसार में कोष्ठ में उदक-वृद्धि, शरीर में उदकक्षय मिलता है। इसी पकार जलोदर, शोथ, विसर्प, गल-गण्ड, अर्बुद, अध्यस्थि आदि संगप्रधान सभी व्याधियों में रोगाधिष्ठान में दूष्य की वृद्धि (एकदेशीय वृद्धि) और अन्यत्र क्षय समझना चाहिए। इस एकदेशीय वृद्धि के ज्ञान से रोगविनिश्चय एवं रोग के लक्षण-समुच्चय को समझने में सहायता मिलती है।

(५) प्रायः सभी रोगों में (रक्तपित्त, वातरक्त, प्रमेह, मेदोरोग को छोड़कर) धातुवर्धक उपाय किये जाते हैं, धातुक्षयकारक नहीं। पूर्वोक्त विवरण से रोगावस्था में धातुओं का क्षय सिद्ध होता है। धातुवृद्धि एकदेशीय ही होती है। इस प्रकार रोगों में दोषवृद्धि और धातुक्षय तथा एकदेशीय दोषक्षय एवं एकदेशीय धातुवृद्धि स्पष्ट होती है। संख्या के दृष्टिकोण से अधिकतम व्याधियाँ रस-रक्तज होती हैं। स्रोतोदुष्टि के लक्षणों में से अधिकतम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रोगों में 'संग' मिलता है। संग-प्रधान व्याधियों में एकदेशीय वृद्धि और अन्य-देशीय क्षय को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है—

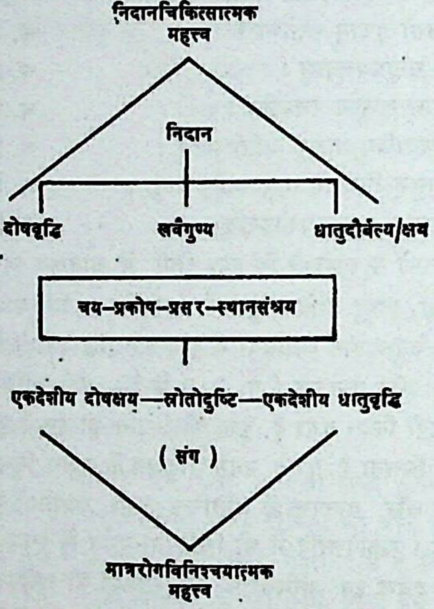

इस प्रकार एकदेशीय दोषक्षय एवं एकदेशीय धातुवृद्धि का केवल रोग-विनिश्चय में महत्त्व है। दोषवृद्धि और धातुक्षय का नैदानिक, रोग-विनिश्चयात्मक तथा चिकित्सात्मक महत्त्व है।

द्रष्टव्य स्थल

१. रोगस्तु दोषवैषम्यम्। अ० हृ० सू० १।२०

२. वैषम्यगमनं हि पुनर्धातूनां वृद्धिह्रासगमनमकात्स्न्र्येन प्रकृत्या च।
च. शा. ६।४

३. दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं, समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥ च. सू. १७।६२

४. वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मणः प्राकृताद् हानिर्वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम् ॥ च. सू. १८।५२

५. शमप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ।
तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेत् ॥ च. चि. ५।१३६

६. अतिस्नेहात्तु मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवा हिताः।
भिन्ने गुदोपलेपात्तु मले तैलसुरासवाः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदावर्तात्तु मन्देऽग्नौ निरूहाः स्नेहवस्तयः ।
दोषवृद्धया तु मन्देऽग्नौ शुद्धो दोषविधिं चरेत् ॥ च.चि. १५।२०६-२०७

७. व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम् ।
वातातपौ भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः ॥
कफशोणितशुक्राणां मलानां चातिवर्तनम् ।
कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः ॥ च. सू. १७।७६-७७

८. काठिन्यादूनभावाद् वा दोषोऽन्तःकुपितो महान् ।
पथ्यैर्मृद्वल्पतां नीतो मृदुदोषकरो भवेत् ॥ च. चि. ३०।३३०
'काठिन्यादिति दोषचयरूपसंहतत्वात् । ऊनभावात् अचयप्रकोपात् ।'
—चक्रपाणि

९. चयादीन् यान्ति सद्योऽपि दोषाः कालेन वा न तु । अ. हृ. १२।२९

१०. क्षिप्यमाणस्तु वैगुण्यात् रसः सज्जति यत्र सः ।
तस्मिन् विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम् । च. चि. १५।३७-३८

११. कृत्स्नेऽर्धेऽवयवे वाऽपि यत्राङ्गे कुपितो भृशम् ।
दोषो विकारं नभसि मेघवत् तत्र वर्षति ॥ सु. सू. २१।२८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निदानं तु आदिकारणम्

निदान शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—रोग को उत्पन्न करने वाले (निमित्त) कारण और रोगविनिश्चय। इसका विशेष तथा शास्त्रीय प्रयोग रोगोत्पादक कारणों के लिए मिलता है। हेतु, निमित्त, आयतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान, मूल, योनि, मुख, प्रेरण और प्रकृति—ये सब निदान के पर्याय बताये गये हैं। रोगोत्पत्ति की प्रक्रिया दोष-प्रकोप से प्रारंभ होती है और यह प्रकोप निदान से होता है। अतः निदान को रोग का प्रथम कारण माना जाता है और निदान-परिवर्जन को चिकित्सा का प्रथम सूत्र माना जाता है। रोगोत्पत्ति में निदान को निमित्तकारण, दोषों को समवायिकारण और दोषदूष्य-सम्मूर्च्छना को असमवायिकारण मानते हैं।

निदान के भेद

(१) निज कारण—इनसे वातादि दोषों की वृद्धि होकर निजरोग उत्पन्न होते हैं।

(२) आगन्तुक कारण—अभिघात, अभिचार, अभिषंग और अभिशाप से आगन्तुक व्याधि उत्पन्न होती है।

पुनः निदान को तीन भागों में विभक्त करते हैं—

(१) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग—इन्द्रियों का इन्द्रियार्थों से मिथ्यायोग, अतियोग, अयोग या हीनयोग ही असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग है।

(२) प्रज्ञापराध—बुद्धिभ्रम से जब मनसा, वाचा, कर्मणा आहित आहार-विहार एवं आचार किया जाता है तब प्रज्ञापराध से रोग होते हैं। असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग भी बहुत अंशों तक प्रज्ञापराधजन्य होता है।

(३) परिणाम—ऋतुओं के अस्वाभाविक रूप से शीत, उष्णादि होने या वर्षा, शीत एवं गरमी के कम, अधिक या असामयिक होने से भी व्याधियाँ होती हैं। वय के अनुसार भी कुछ रोग किसी वय में अधिक मिलते हैं।

निदान को पुनः चार प्रकार से विभक्त किया गया है—

(१) सन्निकृष्ट—वय, दिन, रात्रि तथा भोजन के अन्त, मध्य और आदिकाल में वात, पित्त तथा कफ का प्रकोप हुआ करता है। इन्हें सन्निकृष्ट हेतु कहते हैं।

(२) विप्रकृष्ट—दूरस्थ कारण को विप्रकृष्ट हेतु कहते हैं, यथा—'हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्'।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) व्यभिचारी हेतु—जो निदान दुर्बल होते हैं वे रोग उत्पन्न नहीं कर पाते, उन्हें व्यभिचारी हेतु कहते हैं।

(४) प्राधानिक—उग्र स्वभाव के कारण जो शीघ्र दोषप्रकोपककारक होते हैं उन्हें प्राधानिक हेतु कहते हैं, यथा—विष।

पुनः निदान को अन्य तीन प्रकारों में भी विभक्त करते हैं—

(१) दोषहेतु—केवल दोषप्रकोपक कारणों को दोषहेतु कहते हैं।

(२) व्याधिहेतु—किसी व्याधि विशेष को उत्पन्न करने (खवैगुण्य एवं विशिष्ट दूष्य-दौर्बल्य करने) में जो कारण हों उन्हें व्याधिहेतु कहते हैं, यथा—मृत्तिकाभक्षण से पाण्डु आदि।

(३) उभयहेतु—जिन कारणों से दोषवृद्धि, खवैगुण्य तथा विशिष्ट दूष्यों में दुष्टिभावित्व उत्पन्न होकर रोग होते हों उन्हें उभयहेतु कहते हैं, यथा—विदाही अन्नपान पित्तप्रकोपक, रक्तप्रत्तदूषक तथा रक्तवहस्रोतस में खवैगुण्योत्पादक होने से रक्तपित्त का उभयहेतु है।

निदान को पुनः दो भागों में विभक्त करते हैं—

(१) सामान्य निदान—मिथ्या आहार-विहार से दोषवृद्धि करके रोग उत्पन्न करने वाले निदानों को सामान्य निदान कहते हैं।

(२) विष, शस्त्र, कृमि आदि से दोषप्रकोप होता है। इन निदानों को विशिष्ट निदान कहते हैं। रोग के वातादि भेदों को प्रकट करने वाले निदानों को भी विशिष्ट निदान कहना चाहिए।

जीवाणुओं तथा कृमियों को भी निदान में समाविष्ट करना चाहिए—

(१) आयुर्वेद में कृमियों का स्पष्ट वर्णन है। 'केचित् सूक्ष्माददर्शनाः' से कुछ सूक्ष्म कृमियों की भी उपस्थिति एवं तज्जन्य विकारों की ओर संकेत किया गया है। परन्तु शारीरिक बल के कम होने पर ही ये कृमि रोगोत्पत्ति करते हैं, मात्र इनकी उपस्थिति रोगोत्पत्तिकारक नहीं है। अतः आयुर्वेद में कृमियों की अपेक्षा दोष-धातु-मलों का अधिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

(२) कृमियों से भी प्रथम दोषप्रकोप होकर रोग होते हैं। अतः इन्हें भी निमित्तकारण मानना चाहिए।

(३) 'संक्रामन्ति नरान्नरम्' कहकर ज्वर, प्रतिश्याय, कुष्ठ, यक्ष्मा आदि रोगों का एक रोगी से दूसरे व्यक्ति में संक्रमण बताया गया है। यह संक्रमण कृमियों के संक्रमण से होता है। अतः कृमियों की उपस्थिति एवं उनका महत्त्व स्वीकार्य है और उन्हें व्याधि न कहकर निदान कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(४) आन्त्रों में प्राकृतिक रूप से रहने वाले जीवाणुओं का भी रोगोत्पत्ति में हाथ हो सकता है और यह दोषप्रकोपपूर्वक ही होता है।

(५) वायु एवं उदक के माध्यम से इन कृमियों का शरीर में प्रवेश होता है। आघात लगने पर विदीर्ण त्वक् से भी ये शरीर में प्रविष्ट हो सकते हैं। इस आधार पर इन्हें आगन्तुक कारण भी कुछ विद्वान् स्वीकार करते हैं। वस्तुतः इनसे उत्पन्न होने वाली सभी व्याधियाँ निज हैं। इन कृमियों की उपस्थिति होने पर दोषों पर प्रभाव पड़कर ही रोगोत्पत्ति हुआ करती है। लेकिन, क्योंकि ये मिथ्या आहार-विहार में नहीं आते अतः इन्हें आगन्तुक कारण कहा जाता है। ये आहार-विहार का रूप न होकर आहार के साथ जाने वाले या अन्य मार्ग से भी प्रविष्ट होने वाले भाव हैं, अतः इन्हें किसी भी प्रकार (कारणतः आगन्तुक, व्याध्युत्पत्तिदृष्टिकोण से निज) में रख सकते हैं।

निदान के कार्य

रोगोत्पत्ति में 'विकृतिमापन्नास्तु (दोषाः) खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति' से दोषविकृति, 'स्वधातुवैषम्यनिमित्तजाः ये विकारसङ्घा बहवः शरीरे' से दूष्यविकृति तथा 'तदेतत् स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्' से स्रोतोविकृति का होना बतलाया गया है। रोगोत्पत्ति की प्रक्रिया को सम्प्राप्ति कहते हैं। प्रकुपित दोष समस्त शरीर में प्रसरण करते हैं और जहाँ उन्हें खवैगुण्य मिलता है वहीं पर वे रुक जाते हैं तथा तत्रस्थ दूष्य के साथ सम्मूर्च्छना करते हैं जिससे स्रोतोदुष्टि होकर रोग उत्पन्न होता है।

रोगोत्पत्ति के इस सामान्य विवरण से तीन प्रधान बातें सामने आती हैं—

१. दोषों का प्रकोप।

२. खवैगुण्य।

३. दोषों के द्वारा दूष्यों की दुष्टि।

इन तीन बातों के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन प्रश्न सामने आते हैं—

१. दोषप्रकोप का रोगोत्पत्ति के प्रकरण में क्या अर्थ है, यह किससे और कैसे उत्पन्न होता है?

२. खवैगुण्य कैसे होता है और उसे कौन उत्पन्न करता है?

३. दोष किसी विशिष्ट दूष्य को ही क्यों दुष्ट करते हैं?

इन तीनों प्रश्नों का उत्तर है कि निदान के तीन अंश होते हैं जिनसे पूर्वोक्त तीनों कार्य होते हैं; अर्थात् एक रोग के वर्णित निदानों में से कुछ दोषप्रकोपक होते हैं, कुछ खवैगुण्योत्पादक और कुछ धातुशैथिल्यकर।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निदान से दोषप्रकोप

(१) इससे पूर्व यह सिद्ध किया जा चुका है कि रोगोत्पत्ति में दोषवृद्धि का कर्तृत्व है। निदान से दोषों की वृद्धि होती है, क्षय नहीं। दोषवृद्धि अधिक (चयप्रकोप) या कम मात्रा में (अचयप्रकोप) हो सकती है। उग्र निदानों से दोषों की वृद्धि शीघ्र हो जाती है। तीसटाचार्य ने दोषों को प्रकुपित (बढ़ाने वाले) करने वाले कारणों का सुन्दर संकलन प्रस्तुत किया है। जो नीचे दिया जा रहा है—

वात-प्रकोपक कारण

१ अति व्यायाम	२७ प्रतरण	५३ चिन्ता
२ अपतर्पण	२८ भार	५४ शोक
३ लंघन	२९ गजातिचर्या	५५ रोगातिकर्षण
४ प्रपतन	३० तुरगातिचर्या	५६ दुःखशय्या
५ भग्न	३१ रथातिचर्या	५७ दुःखासन
६ धातुक्षय	३२ पदातिचर्या	५८ क्रोध
७ रात्रिजागरण	३३ लघुद्रव्य	५९ दिवास्वप्न
८ वेग विधारण	३४ शुष्कशाक	६० भय
९ अतिशोक	३५ वल्लूर	६१ आम
१० शीत	३६ वटक	६२ मर्माभिघात
११ अधिक भय	३७ उद्दालक	६३ मार्गविचरण
१२ क्षोभ	३८ कोरदूषक	६४ विष्टम्भिपदार्थों का सेवन
१३ रूक्षपदार्थ-सेवन	३९ श्यामाक	
१४ कटु ,, ,,	४० नीवार	६५ विरुद्धान्न
१५ कषाय ,, ,,	४१ मुद्ग	६६ तृणधान्य
१६ तिक्त ,, ,,	४२ मसूर	६७ करीर
१७ वर्षाऋतु	४३ चणक	६८ तुम्ब
१८ भोजन पचने पर	४४ कलाय	६९ कालिङ्ग
१९ सायंकाल	४५ आढकी	७० चिर्भट
२० बलवद्विग्रह	४६ निष्पाव	७१ कमलनाल
२१ अतिव्यवाय	४७ अनशन	७२ शालूक
२२ अत्यध्ययन	४८ विषमाशन	७३ जाम्बव
२३ प्रधावन	४९ अध्यशन	७४ तिन्दुक
२४ प्रपीडन	५० विषमोपचार	७५ हीन भोजन
२५ अभिघात	५१ दोषातिस्रवण	७६ शुष्क भोजन
२६ प्लवन	५२ रक्तातिस्रवण	७७ तृषिताशन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७८ क्षुधिताम्बुपान
७९ विरेचनाद्यतियोग
८० वेगोदीरण
८१ विक्षेपण
८२ भ्रमण
८३ चालन
८४ क्रियातियोग
८५ पराघातन
८६ साहस
८७ अत्युच्चभाषण
८८ गाढोत्सादान

इनमें वायु को बढ़ाने वाले मिथ्या आहार-विहार, आहार सम्पदाभाव, मानसिक कारण तथा वातवर्धक विशिष्ट अन्नों का समावेश है ।

पित्त-प्रकोपक कारण

१ कटु
२ अम्ल
३ लवण
४ उष्ण
५ विदाही
६ तीक्ष्ण
७ क्रोध
८ उपवास
९ आतप-सेवन
१० स्त्री-प्रसंग
११ तिल-सेवन
१२ अलसी
१३ दही
१४ सुरा
१५ सिरका या कांजी
१६ भोजनोत्तर काल
१७ भोजन-पाचन-काल
१८ शरद् ऋतु
१९ ग्रीष्म ऋतु
२० मध्याह्न
२१ अर्धरात्रि
२२ शोक
२३ भय
२४ आयास
२५ तैल
२६ पिण्याक
२७ कुलत्थ
२८ सर्षप
२९ हरितशाक
३० गोधामांस
३१ मत्स्यमांस
३२ अजामांस
३३ आविकमांस
३४ तक्र
३५ कूर्चिका
३६ मस्तु
३७ सौवीरक
३८ सुराविकार
३९ अम्लफल
४० कट्वर
४१ उष्णकाल
४२ क्षार
४३ शुक्त
४४ शाण्डाकी
४५ मूत्र
४६ धान्याम्ल
४७ निष्पाव
४८ तिलान्न
४९ आम्रातक
५० पीलु
५१ भल्लातकासीस
५२ लांगलिका
५३ अग्नि
५४ मरिच
५५ रज
५६ धूम
५७ ईर्ष्या
५८ अजीर्ण मैथुन
५९ वर्षा ऋतु
६० क्षुधारोध
६१ तृष्णारोध

इन सब निदानों से पित्त की वृद्धि होती है। विभिन्न पित्तप्रधान रोगों के निदानों में इनका समावेश किया गया है। इनमें भी पित्तवर्धक मिथ्या आहार-विहार, मानसिक कारण तथा पित्तवर्धक कुछ विशिष्ट द्रव्यों का भी समावेश किया गया है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कफ-प्रकोपक कारण

१ गुरु	२४ यवक	४७ स्थूलभक्ष्या
२ मधुर	२५ नैषध	४८ शष्कुली
३ स्निग्ध	२६ इत्कट	४९ आमक्षीर
४ दुग्ध	२७ माष	५० किलाट
५ इक्षुविकार	२८ महामाष	५१ मोरट
६ द्रवपदार्थ	२९ गोधूम	५२ कूर्चिका
७ दही	३० तिल विकृति	५३ तक्रपिण्डक
८ दिवास्वप्न	३१ पिष्ट विकृति	५४ पीयूष
९ अपूप सेवन	३२ कृशरा	५५ कदलीफल
१० घृतपक्व सेवन	३३ आनूपमांस	५६ खर्जूर
११ हेमन्त ऋतु	३४ पायस	५७ भव्य
१२ शिशिर ऋतु	३५ औदकमांस	५८ नारिकेल
१३ प्रातःकाल	३६ वसा	५९ निशाम्बुपान
१४ भोजनके तुरन्त वादमें	३७ विष	६० अत्यम्बुपान
१५ वसन्त ऋतु	३८ मृणाल	६१ अतिसंतर्पण
१६ अव्यायाम	३९ कसेरुक	६२ कालातिस्वप्न
१७ आलस्य	४० शृंगाटक	६३ हर्ष
१८ अम्ल	४१ मधुरफल	६४ छर्दिविघात
१९ लवण	४२ वल्लीफल	६५ विरेचनाद्ययोग
२० शीत	४३ समशन	६६ आस्यासुख
२१ पिच्छिल	४४ अध्यशन	६७ अजीर्ण
२२ अभिष्यन्दि	४५ नवान्न	६८ मन्दाग्नि
२३ हायनक	४६ पृथुका	६९ अवश्याय

पूर्वोक्त कारणों में भी कफवर्धक मिथ्या आहार-विहार, मानसिक कारण तथा कफवर्धक विशिष्ट द्रव्यों का समावेश किया गया है। वातवर्धक, पित्त-वर्धक एवं कफवर्धक हेतुओं की पूर्वोक्त तालिकाओं से यह भी स्पष्ट होता है, कि कुछ निदान कई दोषों को बढ़ा सकते हैं यथा—दधि पित्त एवं कफप्रकोपक बताया गया है, निष्पाव वात-पित्त-प्रकोपक बताया गया है, आदि। इसी प्रकार से प्रत्येक रोग के जो निदान बताये गये हैं, उनसे उस रोग को उत्पन्न करने वाले दोष की वृद्धि होती है।

(२) विभिन्न रोगों की सम्प्राप्तियों में निदान से दोषवृद्धि को विभिन्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शब्दों द्वारा बताया गया है। एतदर्थ कुछ उदाहरण नीचे की तालिका में प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

शास्त्र-वचन	रोगनाम	प्रधानदोष	संदर्भ
१ तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तम्।	रक्तपित्त	पित्त	च. चि. ४।७
२ कोष्ठे प्रकोपं समुपैति वायुः।	गुल्म	वात	,, ५।५
३ बहुद्रवः श्लेष्मादोषविशेषः।	प्रमेह	कफ	च. नि. ४।६
४ वातादयास्त्रयो दुष्टाः।	कुष्ठ	त्रिदोष	च. चि. ७।९
५ वायुः प्रकुपितः।	राजयक्ष्मा	त्रिदोष	,, ८।१५
६ तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टाः।	उन्माद	,,	,, ९।५
७ विभ्रान्तबहुदोषाणाम्।	अपस्मार	,,	,, १०।४
८ कफासृक्पित्तानि सन्दूषयतीह वायुः।	शोथ	वात	,, १२।८
९ दोषाः स्रोतांसि सञ्चिताः।	उदररोग	वात (त्रिदोष)	,, १३।८
१० वायुरपानः...पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयति।	अर्श	वात (त्रिदोष)	,, १४।८
११ दुष्यत्यग्निः।	ग्रहणी	पित्त	,, १५।४४
१२ दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति।	पाण्डु	पित्त (त्रिदोष)	,, १६।४
१३ मारुतः......कुप्यति।	श्वास	वात (वात+कफ)	,, १७।१७
१४ स वायुः कुपितः।	अतिसार	वात	च. चि. १९।५
१५ वायुर्महास्रोतसि सम्प्रवृद्धः।	छर्दि	वात (कफ)	,, २०।७
१६ कुपिताः मारुतादयः।	विसर्प	त्रिदोष	,, २१।२२
१७ पित्तानिलौ प्रवृद्धौ।	तृष्णा	वात+पित्त	,, २२।५
१८ रौक्ष्याद् वातं प्रकोपयति।	विष	वात (त्रिदोष)	,, २३।२५
१९ मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण।	मदात्यय	,,	,, २४।११७
२० दुष्टा वातपित्तकफाः।	निजव्रण	त्रिदोष	,, २५।१०
२१ पक्वाशये कुप्यति चेदपानः।	उदावर्त	वायु	,, २६।५
२२ पृथग् मलाः स्वैः कुपितैः निदानैः।	मूत्रकृच्छ्र	वायु	,, २६।३३
२३ स्नेहाच्चामं चितं कोष्ठे वातादीन् मेदसा सह रुद्ध्वा।	उरुस्तम्भ	त्रिदोष	,, २७।१०
२४ पूरयित्वानिलोवली।	वातव्याधि	वात	,, २८।१८
२५ अतिवृद्धः शरीरार्धमेकं वायुः प्रपद्यते।	अर्दित	वात	,, २८।३८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२६ वायुर्विवृद्धः ।	वातशोणित	वात	च० चि०२९।१०
२७ वातलायाः समीरणः विवृद्धः ।	योनितोद	वात	,, ३०।९
२८ वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासम् ।	प्रवाहिका	वात+कफ	सु. उ. ४०
२९ प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः ।	कास	,,	,, ६२
३० प्रकुपिताः पवनादयस्तु ।	स्वरभेद	वात	,, ५३
३१ दोषाः त्रिगुणाः ।	हृद्रोग	त्रिदोष	,, ४३
३२ अपानः कुपितो वायुः ।	मूत्रजठर	वात	,, ५८
३३ वातः कफश्चापि गले प्रवृद्धौः ।	गलगण्ड	वात+कफ	सु. नि. ११
३४ प्रदुष्टौ कफमारुतौ ।	शीतपित्त	कफ+वात	माधव
३५ विदग्धं पित्तम् ।	अम्लपित्त	पित्त	,,
३६ दोषाः सम्मूर्च्छिताः ।	अर्वुद	त्रिदोष	सु. नि. ११
३७ दोषाः......उच्छ्रिताः ।	विद्रधि	पित्त (त्रिदोष)	,, ९

ऊपर दी गई तालिका में दोष-वैषम्य (दोषवृद्धि) ज्ञापक निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग मिलता है—दोपप्रकोप, दोषवृद्धि, दोपदुष्टि, दोषवैगुण्य, सम्मूर्छित दोष, उच्छ्रित दोष, समुत्क्लिष्ट दोष, संचित दोष, बलवान् दोष तथा विदग्ध दोष। इन सभी शब्दों से तत्तत् प्रकरण में दोषवृद्धि समझनी चाहिए, क्योंकि जिन रोगों में जो प्रधान दोप बताये गये हैं उन रोगों में बताये गये निदानों से उन दोषों की वृद्धि ही हो सकती है, क्षय नहीं। निदानों से दोषों की वृद्धि 'सामान्यं वृद्धिकारणम्' के सिद्धान्तानुसार ही होती है। आगन्तुक और मानसिक कारणों से भी दोषवृद्धि होकर ही रोग होते हैं।

(३) निदान में दोष के जिस अंश को बढ़ाने वाले भाव होंगे उनसे दोष के उसी विशिष्ट अंश की वृद्धि होगी। इस प्रकार दोष की सर्वांगीण विकृति या किसी एक गुण की वृद्धि हो सकती है, यथा—आध्मान में वायु की सर्वांगीण (द्रव्यतः) विकृति होती है; रक्तपित्त में पित्त की और श्वास में कफ की द्रव्यतः वृद्धि होती है। निदान से दोष के किसी विशिष्ट गुण की विकृति के उदाहरणस्वरूप ज्वर (पित्त का उष्णगुण), शूल वायु का चलगुण, विबंध (वायु का रूक्ष गुण), पित्तातिसार (पित्त का सरगुण तथा द्रवगुण) आदि ले सकते हैं और उन रोगों के निदानों से उन गुणों की वृद्धि स्वीकार कर सकते हैं।

(४) निदान से अग्निमांद्य भी होता है। यह या तो सीधे ही निदान से हो जाता है या किसी दोष की वृद्धि से अग्नि पर क्षयात्मक प्रभाव पड़कर होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से अग्निमांद्य का निदान से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्बन्ध है। अग्निमांद्य वस्तुतः कैसे होता है? इस सम्बन्ध में तीन बातें अवधेय हैं—

(अ) अग्नि प्राकृत है, परन्तु आहार के अधिक मात्रा में, अनुचित काल में तथा असम्यक् रीति से लिये जाने के कारण अग्नि उसे पचा नहीं पाती और अजीर्ण जैसी अवस्था हो जाती है। इसे भी अग्निमांद्य कहते हैं।

(आ) निदान से किसी दोष की वृद्धि होकर कोष्ठ में पाचन के माध्यम के बदल जाने से अग्नि अपना कार्य नहीं कर पाती। इससे दोषों द्वारा अग्नि पर प्रभाव और परिणामतः अग्निमांद्य की स्थिति उत्पन्न होती है।

(इ) अग्नि (पित्त) भी पोष्य-पोषकभाव से दो प्रकार की होती है। पोषकभाव आहार से मिलते हैं। आहार के ठीक न पचने के कारण पोषकभावों की कमी से अग्निमांद्य हो सकता है। इस प्रकार अग्निमांद्य निदान से, दोषवृद्धि से, पोषकभाव की कमी से हो सकता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि निदान से पित्त (अग्नि) पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है क्योंकि निश्चित मात्रा में लिये गये आहार को पचाने में क्षम अग्नि अधिक या अव्यवस्थित आहार को पचा नहीं सकती और तब हम उसे अग्निमांद्य या अजीर्ण कह देते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि पित्त के गुण-कर्मों पर निदान से सीधा क्षयात्मक प्रभाव पड़ता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निदान से खवैगुण्य

निदान के एक अंश से खवैगुण्य उत्पन्न होता है।

(१) यदि खवैगुण्य और स्ववैगुण्य का विवाद उपस्थित करके कहा जाय कि दोष स्वयं ही खवैगुण्य उत्पन्न करते हैं तो प्रश्न होगा कि दोष किसी विशिष्ट स्रोतस में ही वैगुण्य क्यों और कैसे उत्पन्न करते हैं ? प्रसरण-शील दोष सर्वप्रथम रसवहस्रोतस के सम्पर्क में आते हैं अतः दोषों को सदा रसवहस्रोतस में ही खवैगुण्य करना चाहिए और इस प्रकार रसवहस्रोतस की ही व्याधियाँ होनी चाहिए, अन्य नहीं।

(२) सम्प्राप्ति की अवस्थाओं से स्पष्ट होता है कि दोषों का संग या स्थानसंश्रय उसी स्थान में होता है जहाँ खवैगुण्य उपस्थित हो। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रसरण करते हुए दोषों को बना-बनाया खवैगुण्य मिलता है जहाँ वे स्थानसंश्रय करते हैं। यह खवैगुण्य दोषों के वहाँ पहुँचने के पूर्व ही किसने किया ? इस प्रश्न का एक मात्र उत्तर यही है कि खवैगुण्य निदान के एक विशिष्ट अंश से होता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित कुछ व्याधियों में निदान का खवैगुण्योत्पादक अंश देखिये—

अनुक्रम	रोगनाम	खवैगुण्योत्पादक निदानांश
१	श्वास	रज तथा धूम्र-सेवन
२	उरःक्षत	प्लावन, धावन, आघात
३	रक्तपित्त	आतप, व्यायाम, श्रम
४	जलोदर	स्नेहन, अनुवासन आदि के बाद सहसा शीतल जल पीना
५	निजशोथ	चेष्टाहीन अर्श, मर्मोपघात, विषम प्रसूति।
६	स्वरभेद	उच्च स्वर से भाषण, विष-सेवन।
७	कास	धूम्र, रज, भोजनांश का श्वास-प्रणाली में जाना
८	अर्श	कठोर आसन पर बैठना, पत्थर या मिट्टी से गुदा को साफ करना, अति कुंथन
९	वातरक्त	उष्ट्रयान, प्लावन, अभिघात, अत्यध्वगमन
१०	तृष्णा	सूर्य-संताप, मद्य, शुष्कान्न, उष्ण तापमान
११	अतिसार	वेगधारण, प्रदुष्ट जलपान
१२	उरुस्तम्भ	अत्यायास, उरुक्षोभ

इसी प्रकार सभी रोगों में समझना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) शाब्दिक अर्थ से खवैगुण्य और स्रोतोदुष्टि एक ही चीज लगती है, परन्तु वस्तुतः दोनों में स्पष्ट अन्तर है। खवैगुण्य निदानांश से होता है जब कि स्रोतोदुष्टि दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होती है। सम्प्राप्ति की स्थानसंश्रयावस्था के लिए खवैगुण्य आवश्यक है और स्रोतोदुष्टि व्यक्ति की अवस्था में होती है और इसीलिए स्रोतोदुष्टि के चार लक्षणों के आधार पर रोगों के प्रत्यात्मलक्षणों को समझाया जाता है। यथा—ज्वर में रसवहस्रोतस संग जिससे त्वचा में प्रक्षिप्त पित्तोष्मा की वृद्धि के लक्षण और कोष्ठ में क्षय के लक्षण; अतिसार में पुरीष की अतिप्रवृत्ति; अर्श में सिराग्रन्थि; श्वास में प्राणवहस्रोतों में संग; जलोदर में उदक का विमार्ग-गमन आदि। इस प्रकार यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि स्रोतोदुष्टि दोषदूष्य-सम्मूर्च्छना-जनित है तो शास्त्रों में वर्णित स्रोतोदुष्टिकर निदानों को खवैगुण्योत्पादक निदानांश समझना चाहिए। ऐसा स्वीकार करने पर सभी स्रोतसों के लिए खवैगुण्योत्पादक निदानांशों को सरलतया समझा जा सकता है। कुछ निदान एक ही साथ दोषप्रकोपक, दूष्य-दौर्बल्यकर तथा खवैगुण्योत्पादक भी हो सकते हैं। ऐसे निदान अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं।

(४) यदि निदान के द्वारा मात्र दोषवृद्धि ही होती तो प्रत्येक रोग में निदान लिखने की आवश्यकता नहीं थी। प्रायः पित्तप्रकोपक निदान एक से ही हैं अथवा उसके गुणों के आधार पर उन्हें तीन वर्गों में बाँटकर लिखा जा सकता था। इसी प्रकार सभी वात और कफ के रोगों का निदान एकबार लिख देना चाहिए था। ऐसी न करने के पीछे यही एक हेतु है कि प्रत्येक रोग का निदान न केवल दोषवृद्धि अपितु दूष्य-शैथिल्य एवं खवैगुण्य भी उत्पन्न करता है।

(५) शास्त्रीय आधार पर कहें तो, उदाहरणार्थ—ज्वर तब उत्पन्न होगा जब पित्तवृद्धि (विशेषतः उष्णगुण की) हो और वह पित्त रसवह-स्रोतस में स्थानसंश्रय करके रसधातु के साथ सम्मूर्च्छना करे। ये ज्वर के निदान हैं। ऐसा कहने का एक अर्थ यह भी है कि यदि किसी को इन निदानों का सेवन कराया जाय तो ज्वर ही होगा; अर्थात् उस निदान से पित्तवृद्धि होगी, रसवहस्रोतस में खवैगुण्य होगा जिससे प्रसर करता हुआ पित्त रसवह-स्रोतस में ही स्थानसंश्रय करेगा और इससे सम्मूर्च्छना करके ज्वर ही उत्पन्न करेगा। यदि निदान से केवल दोषवृद्धि ही हो तो यह कहना कठिन था कि अमुक निदान के सेवन से अमुक ही व्याधि होगी। इन आधारों पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि निदान के एक अंश से खवैगुण्य उत्पन्न होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। विभिन्न रोगों को उत्पन्न करनेवाले विभिन्न कृमि किसी विशिष्ट स्थान या स्रोतस में ही क्यों स्थानसंश्रय करते हैं? इसका अर्वाचीन चिकित्सा विज्ञान उचित उत्तर नहीं दे पाता है। उनके कथनानुसार कृमियों को किसी विशिष्ट स्थान में अनुकूल वातावरण मिल जाता है या उस स्थान पर होने वाले रस-विनिमय में बाधा (Stasis of tissue fluid) उत्पन्न हुई रहती है, अतः कृमि वहीं रुक जाते हैं। कुछ कृमि कुछ विशिष्ट स्रोतसों या धातुओं (tissues) को ही प्रभावित करने की शक्ति रखते हैं और उन्हीं में वे रुककर रोग उत्पन्न करते हैं। स्पष्टतः आयुर्वेद का खवैगुण्य-सिद्धान्त अधिक व्यापक और वैज्ञानिक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निदान से दूष्यों में दौर्बल्य

(१) इससे पूर्व यह बताया जा चुका है कि रोगों से धातुक्षय होता है। यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि कोई भी दोष चय, प्रकोप, प्रसर अवस्थाओं को पार कर स्थानसंश्रय की अवस्था में किसी विशिष्ट दूष्य को ही क्यों दुष्ट करता है ? उदाहरणार्थ, श्वास प्राणावहस्रोतस की व्याधि है और उसमें रस दूष्य हुआ करता है; अर्श गुदवलियों में मांस धातु की विकृति है, जलोदर में उदक दूष्य रहता है आदि। सभी स्थानों या अवयवों में रस, रक्त, मांस आदि धातुएँ रहने पर भी किसी विशिष्ट दूष्य की विकृति इसलिए होती है कि उस रोग के निदान के एक अंश से उसी विशिष्ट धातु या मल में दौर्बल्य उत्पन्न हो जाता है जिससे स्थानसंश्रयावस्था में दोष उसी दूष्य को प्रभावित करते हैं।

(२) चरक सूत्रस्थान २८वें अध्याय में व्याधिक्षमत्व का वर्णन किया गया है। कारण के उपस्थित रहने पर भी यदि शरीर में बल हो तो रोग नहीं होते हैं। बल विशेषतः धात्वाश्रित रहता है। व्याधि को उत्पन्न ही न होने देना व्याधिक्षमत्व है; किसी रोग की उत्पत्ति में शारीरिक बल से रुकावट पैदा होती है और वह रोग उत्पन्न नहीं हो सकता—इसे व्याध्युत्पादक प्रतिबंधकत्व (बल) कहते हैं; रोग पैदा हो जाय परन्तु रोग के बल को, उग्रता को कम करना व्याधिबल विरोधिकत्व (बल) है। इस प्रकार सभी धातुओं के पुष्ट रहने पर बल बना रहता है और कोई भी व्याधि उत्पन्न नहीं होती—यह सामान्य नियम व्याधिक्षमत्व शब्द से अभिप्रेत किया जाता है। कुछ विकार रसज होते हैं, कुछ रक्तज आदि। यदि प्रकृतितः या अन्यथा भी वह विशिष्ट धातु अधिक बलवान् रहे तो वह रोग उत्पन्न नहीं हो सकता है। यहाँ पर 'सारतः परीक्षेत' का व्यावहारिक महत्त्व है। रोग उत्पन्न होने के लिए धातुक्षय तथा तज्जन्य बलहानि आवश्यक है और निदान के द्वारा भी किसी विशिष्ट धातु का शैथिल्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार निदान के एक अंश विशेष से धातुओं में दौर्बल्य सिद्ध होता है।

(३) शास्त्रों में जो धातुप्रदूषक कारण बताये गये हैं, उन्हें निदान का धातुदौर्बल्यकर अंश समझना चाहिए।

इस प्रकार निदान के तीन भाग या अंश होते हैं जिनसे दोषवृद्धि, खवैगुण्य और दूष्य में शैथिल्य या दौर्बल्य उत्पन्न होता है। ज्वर के निदान से पित्तवृद्धि, रसवहस्रोतस में खवैगुण्य और रस में दौर्बल्य उत्पन्न होता है। रक्तपित्त के निदान से पित्तवृद्धि, रक्तवहस्रोतस में खवैगुण्य और रक्तशैथिल्य होता है। प्रमेह के निदानों से कफवृद्धि, मेदोवहस्रोतस में खवैगुण्य और मेदोधातु का शैथिल्य होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझें।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक रोग से दूसरे रोग की उत्पत्ति

कुछ रोग स्वयं रहते हुए या स्वयं शान्त होकर अन्य रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। ऐसी अवस्थाओं में निदानार्थंकर रोग और उससे उत्पन्न रोग की दोषदूष्य या स्रोतस में समानता होती है। प्रकुपित दोष का दूसरे दोष पर प्रभाव; प्रदुष्ट दूष्य द्वारा दूसरे दूष्य की दुष्टि तथा प्रदुष्ट स्रोतस द्वारा दूसरे स्रोतस पर वैकारिक प्रभाव पड़ता है। ज्वर संताप से रक्तपित्त तथा रक्तपित्त से ज्वर उत्पन्न हो सकता है और इनमें से एक या दोनों से क्षय उत्पन्न हो सकता है, कारण कि संताप से रक्तवृद्धि और रक्त का बहिर्गमन होकर क्षय होना संभव है। इसी प्रकार प्लीहावृद्धि से उदररोग और उदररोग से शोथ हो सकता है; अर्श से उदररोग तथा उदररोग से गुल्म उत्पन्न हो सकता है तथा प्रतिश्याय से कास, कास से क्षय और क्षय से शोष हो सकता है। पूर्वोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि उनमें दोष, दूष्य या स्रोतस का सम्बन्ध रहता है। जब दो रोग एक साथ मिलें तब उसे रोगसांकर्य कहते हैं। रोग-सांकर्य में दोनों रोगों की चिकित्सा की जाती है। पूर्वोक्त निदानार्थंकर रोग एवं तज्जन्य रोगों का, उदाहरणार्थ, दोष-दूष्य-स्रोतसात्मक सम्बन्ध नीचे प्रस्तुत है—

रोग-नाम	प्रधान दोष	प्रधान दूष्य	स्रोतोदुष्टि लक्षण	आशुकारी/ चिरकारी
ज्वर	पित्त	रस	संग	आशुकारी
रक्तपित्त	पित्त	रक्त	संग-विमार्गगमन	आ.
क्षय	त्रिदोषज	रसरक्तादि (रक्तादीनां च संक्षयात्)	संग	चि.
प्लीहाभिवृद्धि	वात	रक्त	संग	चि.
उदररोग	वात	रस	संग	आ./चि.
शोथ	वात	रस, रक्त	संग	चि.
अर्श	वात	मांस, रक्त	संग	चि.
उदर	वात	रस	संग	चि.
गुल्म	वात	रस	संग	चि./आ.
प्रतिश्याय	वात-कफ	रस	संग	आ.
कास	वात-कफ	रस	संग	आ.
क्षय	त्रिदोष	रस, रक्तादि	संग	चि.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चरक में दिये गये इन उदाहरणों के अतिरिक्त उदाहरण भी बनाये जा सकते हैं, यथा—अजीर्ण से अतिसार, अतिसार से ग्रहणी और ग्रहणी से क्षय; रक्तगतज्वर से पाण्डु, पाण्डु से कामला और दोनों से यकृद्दाल्युदर या विपरीत क्रम से भी—यथा—यकृद्दाल्युदर से पाण्डु, पाण्डु से कामला।

जब एक रोग से दूसरा रोग उत्पन्न होता है तब दोष-दूष्य-स्रोतस में कहीं समानता होते हुए भी रोगाधिष्ठान (स्थान), दोष के किसी एक विशिष्ट गुण की वृद्धि, स्रोतस में विकृति का अधिक हो जाना तथा दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना का विशिष्ट प्रकार आदि बातों में अन्तर आ जाता है जिससे रोगार्थकर निदान से दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में चरक का यह वचन अवधेय है–'स्रोतांसि स्रोतांस्येव, धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टाः। तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति, दोषस्वभावादिति'। चरक-विमान ५-९। 'सोतांसि धातवश्च दुष्टाः प्रत्यासन्नानि स्रोतांसि धात्वन्तराणि च स्वदोषसंक्रान्त्या दूषयन्तीत्यर्थः'। च. वि. ५-९ पर चक्रपाणि। इसके अतिरिक्त एक स्रोतोमूल का दूसरे स्रोतस या धातु से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो तो एक रोग दूसरे रोग को जन्म दे सकता है–उदाहरणार्थं रक्त के सभी विकारों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक वे जिनका अधिष्ठान त्वचा में हो और दूसरे वे जिनका अधिष्ठान रक्त में ही हो। त्वचा मांस की उपधातु भी है और स्वेदवहस्रोतोमूल लोमकूप भी त्वचा में होते हैं। इसी प्रकार मेद की उपधातु स्नायु भी है जो कि मांसवहस्रोतोमूल भी है। प्राणवहस्रोतस का मूल हृदय भी है जो कि रसवहस्रोतस का भी मूल है। अतः दोष-दूष्य और स्रोतस (सामीप्यात्, स्रोतस्सम्बन्धात् स्रोतोविघातात्) एक स्थानविशेष से दूसरे स्थानविशेष पर प्रभाव डालकर रोग उत्पन्न करते हैं। इस रोगार्थकर रोग का व्यावहारिक महत्त्व प्रतिदिन देखने को मिलता है।

सहज रोग

अर्श, स्थौल्य, प्रमेह आदि कुछ व्याधियों को वंशपरम्परागत बताया गया है। माता-पिता के बीज, बीजभाग या बीजभागावयव में विकृति रहने पर बच्चों में जन्मतः कुछ विशिष्ट धातुओं या स्रोतसों में दौर्बल्य रहता है जिससे उन्हें कुछ रोग जल्दी हो जाते हैं। इस सहज दौर्बल्य या विशिष्ट धातु/स्रोतस-विकृति को भी निदानार्थकर अवस्था के रूप में स्वीकार किया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निदान का व्यावहारिक महत्त्व

(१) रोगी जब चिकित्सक के पास आता है, तब रोग की व्यक्तावस्था हो चुकी होती है। आज के व्यस्त जीवन में अत्यन्त अव्यस्थित एवं अनिश्चित आहार-विहार सामान्य बातें हो गईं हैं, अतः रोगी से किसी निश्चित निदान का ज्ञान करना कठिन हो जाता है। कुछ ही रोगों में मिथ्या आहार-विहार का वृत्त स्पष्ट मिलता है। इसलिए रोग के निदानों में से ऐसे विशिष्ट निदानों का वृत्त लेना चाहिए जिसे रोगी बता सके। प्रत्येक रोग के निदानों में से कुछ विशिष्ट निदान ही आजकल व्यावहारिक महत्त्व रखते हैं, यथा—प्रमेह में आस्यासुख, स्वप्नसुख तथा अतिमिष्ठान्न सेवन; कुष्ठ में मत्स्य + दुग्ध, दुग्ध + लवण एवं शीत एवं उष्ण एक साथ उपयोग; राजयक्ष्मा में साहस तथा अति-मैथुन; उन्माद में मनोभिघात, क्षतक्षीण में साहस; विसर्प में कूर्चिक एवं किलाट का अधिक प्रयोग; मूत्रकृच्छ्र में क्षति, अभिघात एवं अश्मरी; तथा खवैगुण्योत्पादक निदानांश, इसी प्रकार सर्वत्र समझें। इनके सम्बन्ध में पूछने पर रोगी कुछ जानकारी देते हैं जिससे रोगविनिश्चय में सहायता मिलती है।

(२) लक्षणसमुच्चय के आधार पर रोगविनिश्चय करके निदान एवं सम्प्राप्ति का अनुमान करते हैं। निदान का अनुमान करने से पथ्यापथ्य का क्षेत्र बढ़ाया जाता है। कुछ ही रोगों में पथ्यापथ्य का स्पष्ट वर्णन है। सभी रोगों में जो निदान हैं वे सब अपथ्य माने जाते हैं और शेष पथ्य; इन्हीं पथ्यों में से अवस्थानुसार पथ्य की व्यवस्था की जाती है।

(३) यदि सभी उपलब्ध ग्रन्थों से रोगों के निदान एकत्रित करें तो प्रत्येक रोग में निदानों की संख्या लम्बी हो जाती है; यथा—शोथ के २१४ निदान, पाण्डु के ५५ निदान, अम्लपित्त के ३५ निदान, ग्रहणी के २५ निदान और धातुक्षय के ४६ निदान, आदि, आदि। यह तत्त्व रोगों में सामान्य निदानों की संख्या है। विशिष्ट निदानों को जोड़ने पर यह संख्या और भी बढ़ जाती है। इस प्रकार के विस्तृत प्रारूप (प्रोफार्मा) अन्वेषण में काम आते हैं। परन्तु दैनन्दिन रोगीचर्या पत्रकों में इतने विस्तार की आवश्यकता नहीं होती। मुख्य निदानों को याद रखने से काम चल जाता है। इन्हीं मुख्य निदानों से पथ्यापथ्य भी निश्चित कर सकते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(४) 'निदान-परिवर्जन' का निदान में बहुत बड़ा व्यावहारिक महत्त्व है। कुछ रोगों में तो निदान-परिवर्जन ही महत्त्वपूर्ण चिकित्सा है, यथा—मृत्तिका भक्षणजन्य पाण्डु में, शोकातिसार में, द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि में, आदि।

(५) अन्वेषण—प्राणियों पर परीक्षण करने के हेतु से उन प्राणियों में रोग पैदा किया जाता है और पश्चात् औषध का प्रयोग कर अध्ययन किया जाता है। इस प्रक्रिया में निदान का सेवन कराकर रोगोत्पत्ति करने में निदान का गवेषणात्मक प्रात्यक्षिक महत्त्व भी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संतर्पण व अपतर्पण बनाम निदान

पीछे हम यह लिख चुके हैं कि प्रायः सभी रोगों में धातुक्षय होता है। इसी प्रकार रोगोत्पत्ति में हम दोषवृद्धि का ही विशेष कर्तृत्व स्वीकार कर चुके हैं, दोषक्षय का नहीं। इस पृष्ठभूमि में संतर्पण एवं अपतर्पण का विचार करेंगे। एक ही शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग हो सकता है। इस दृष्टि से सामान्यतः संतर्पण और अपतर्पण इन शब्दों का प्रयोग निदान एवं चिकित्सा के लिए किया गया मिलता है। संतर्पणोत्थ रोगों की अपतर्पण चिकित्सा और अपतर्पणोत्थ रोगों की संतर्पण चिकित्सा करने के वचन भी मिलते हैं। परन्तु यदि एक शब्द को एक निश्चित अर्थ और सीमा में प्रयुक्त करना अभीष्ट हो, जैसा कि विज्ञान के क्षेत्र में है, तो संतर्पण और अपतर्पण को निदान के क्षेत्र में तथा लंघन-बृंहणादि को चिकित्सा के क्षेत्र में रखना चाहिए। 'सन्तर्पणोत्था ये रोगा रोगा ये चापतर्पणात्' कहकर इन्हें निदान के क्षेत्र में महत्त्व दिया गया है और 'दोषाणां बहुसंसर्गात् सङ्कीर्त्यन्ते ह्युपक्रमाः। षट्त्वं नातिवर्तन्ते' कहकर लंघन-बृंहण आदि को उपक्रम (चिकित्सा) के क्षेत्र में महत्त्व दिया गया है। यह स्मरणीय है कि चरक ने 'लंघन-बृंहणीय-अध्याय' के बाद ही 'संतर्पणीय' का अध्याय रखकर निदान-चिकित्सा के व्यापक सिद्धान्तों का एक अध्ययन प्रस्तुत किया है। यूं तो सामान्यतः रूक्षण–और स्वेदन अपतर्पक तथा बृंहण, स्वेदन और स्तम्भन संतर्पक क्रियाएँ हैं तथापि एक निश्चित अर्थ में ही प्रयुक्त करने के लिए संतर्पण और अपतर्पण को निदान के क्षेत्र में ही रखना चाहिए।

शाब्दिक अर्थ से तर्पण का अर्थ है तृप्त करना, पुष्ट करना, बढ़ाना, बनाये रखना आदि। इसके विपरीत अपतर्पण है। इस प्रकार संतर्पण से वृद्धि और अपतर्पण से क्षय होने का आभास मिलता है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि संतर्पण या अपतर्पण किसका ? दोष का या धातु और मलों का। पुनश्च जिन रोगों की गणना संतर्पणोत्थ विकारों में की गयी है उनमें दोषवृद्धि तो सामान्य नियमानुसार मिलती है, परन्तु धातुवृद्धि नहीं मिलती। इसी प्रकार अपतर्पणोत्थ विकारों में धातुक्षय तो मिलता है परन्तु दोषक्षय नहीं; दोष की तो वृद्धि ही मिलती है। अतः यह कहना अधिक अच्छा है कि संतर्पणोत्थ विकारों में संतर्पण से कफ या पित्त की वृद्धि तथा अपतर्पणोत्थ विकारों में धातुक्षय और वातवृद्धि विशेषरूप से परिलक्षित होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्तर्पणोत्थ विकार

रोगनाम (च. सू. २३)	प्रधान दोष (च. सू. २०)	प्रधान दूष्य (च. सू. २८)
१ प्रमेह	कफ	मेद
२ पिड़का	पित्त	रक्त
३ कोठ	पित्त–कफ	रस, रक्त
४ कण्डू	,,	,,
५ पाण्डु	पित्त	,,
६ ज्वर	,,	रस
७ कुष्ठ	त्रिदोष	रक्त आदि
८ आमप्रदोष	कफ	रस
९ मूत्रकृच्छ्र	वात	मूत्र
१० अरोचक	कफ	रस, रक्त
११ तन्द्रा	कफ	,,
१२ क्लैब्य	,,	शुक्र, रस
१३ अति स्थौल्य	,,	मेद
१४ आलस्य	,,	रस
१५ गुरुगात्रता	,,	,,
१६ इन्द्रियाणां लेप:	,,	,,
१७ स्रोतसां लेप:	कफ	रस
१८ बुद्धेर्मोह:	,,	रस, रक्त
१९ प्रलीमक:	,,	,,
२० शोफ	वात	,,
२१ 'एवं विधाश्चान्ये व्याधय:' में कफ/पित्तज रोग		,,

अपतर्पणोत्थ विकार

रोगनाम	मुख्य दोष	मुख्य दूष्य
१ ज्वर	पित्त	रस
२ कास	वात, कफ	रस
३ पार्श्वशूल	वात	रस
४ अरोचक	कफ	रस, रक्त
५ श्रोत्र दौर्बल्य	वात	रस
६ उन्माद	वात	रस
७ प्रलाप	वात	रस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

८ हृदयव्यथा	वात	रस
९ विट्-संग्रह	,,	विट्
१० मूत्र-संग्रह	,,	मूत्र
११ जंघोरुत्रिक शूल	,,	रस
१२ पर्वास्थि संधिभेद	,,	रस
१३ अन्य वातरोग	,,	रस, रक्त

यहाँ अवधेय है कि ज्वर और अरोचक को संतर्पणोत्थ विकारों में भी गिना गया है। अपतर्पणोत्थ विकारों में इनकी गणना मात्र लक्षणरूप में समझनी चाहिये। धातुक्षयावस्था में भी ज्वर और अरोचक लक्षणरूपेण रहते हैं।

ऊपर दी गई तालिकाओं से एक बात स्पष्ट है कि कफ एवं पित्तज विकार संतर्पणोत्थ और वातज विकार अपतर्पणोत्थ बताये गये हैं। संतर्पण का कफ और पित्तवृद्धि के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध और अपतर्पण का धातुक्षय उत्पन्न करके वातवृद्धि करने के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध का तर्क भी स्वीकार्य है, कारण कि 'वायो धातुक्षयात् कोपः' शास्त्रवचन से इसकी पुष्टि होती है। व्याधियों के 'आमाशयोत्थ' एवं 'पक्वाशयोत्थ' होने का सामंजस्य 'संतर्पणोत्थ' एवं 'अपतर्पणोत्थ' से बैठाया जा सकता है। यहाँ यह भी अवधेय है कि पूर्वोक्त संतर्पणोत्थ २० रोगों में से प्रमेह, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ आदि कुछ सामान्यज विकार हैं और आलस्य, गुरुगात्रता, बुद्धेर्मोहः आदि नानात्मज विकार हैं या लक्षणमात्र हैं। इसी प्रकार अपतर्पणोत्थ विकारों में ज्वर, कास, अरोचक, उन्माद आदि सामान्यज विकार हैं और शेष नानात्मज या लक्षणमात्र हैं। ज्वर, कास और अरोचक यदि अपतर्पक कारणों से उत्पन्न हों तो उन्हें लक्षण रूप में समझना अधिक उचित है।

द्रष्टव्य स्थल

१ इह खलु निदान-दोष-दूष्यविशेषेभ्यो विकारविघातभावाभावप्रतिविशेषा भवन्ति। च. नि. ४।४

२ तस्योपलब्धिर्निदान-पूर्वरूप-रूपोपशय-सम्प्राप्तितः। च. नि. १।६

३ निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम्" अ. हृ. नि. १।२।

४ तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे। च. नि. १।७

५ सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः। अ. हृ. नि. १।१२

६ तत् त्रिविधम्—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति। च. नि. १।३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७ कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च ।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसङ्ग्रहः ॥ च. सू. १।५४

८ संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् । सु. उ. १।२५

९ प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शाद् निःश्वासात् सहभोजनात् ।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिकरोगाश्च सङ्क्रामन्ति नरान्नरम् ॥ सु. नि. ५।३२-३३

१० इह खलु हेतुनिमित्तमायतनं, कर्त्ता, कारणं, प्रत्ययः, समुत्थानं, निदानमित्यनर्थान्तरम् । च. नि. १।३

११ मिथ्याहारविहारादि सामान्यं परिकीर्त्तितम् ।
विशिष्टं विषशस्त्राग्निक्रिमिव्यालादि कीर्तितम् ॥ सिद्धान्त-निदान, प्र. खण्ड ।

१२ कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ।
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च ॥ च. नि. ८।२१
निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते ।
तद्यथा ज्वरसन्तापाद् रक्तपित्तमुदीर्यते ।
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ॥
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोफ एव च ।
अर्शोभ्यो जठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥
प्रतिश्यायादथो कासः कासात् सञ्जायते क्षयः ।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषश्चाप्युपजायते ॥ च. नि. ८।१६-१९

१३ एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि ।
व्याधेरेकस्य चानेको बहूनां बहवोऽपि च ॥ च. नि. ८।२४

१४ ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि सङ्ग्रहे ।
व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः ॥ च. नि. ८।४०

१५ न हि सर्वाण्यपथ्यानि तुल्यदोषाणि, न च सर्वे दोषास्तुल्यबलाः, न च सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति । च. सू. २८।७

१६ शरीराणि चातिस्थूलान्यतिकृशान्यनिविष्टमांसशोणितास्थीनि दुर्बलान्यसात्म्याहारोपचितान्यल्पाहाराण्यल्पसत्त्वानि च भवन्त्यव्याधिसहानि, विपरीतानि पुनर्व्याधिसहानि । च. सू. २८।७

17 "The effect of the stimulus depends in great degree not only on the type of stimulus but on the state of the individual and his response. Some adopt more readily than

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

others......these data tell us how little we really know of the underlying factors producing host reactions"

"Still, the nature of the response may depend upon the state of the individual when stimulated, so that similar situations may have entirely different effect on two individuals or the same individual at different times."

Pathologic Physiology,
by–Sodeman, Third edition, Page 6

१८ रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ । वाग्भट : निदान १२

१९ "A complete catalog of all the conditions outside the digestive tract capable of causing indigestion would serve to do little more than call attention to the fact that disease of practically all symptoms of the body may at times be accompanied by indigestion in one form or another."

Principles of Internal Medicine,
Harisson, Fifth edition,
(International Students' edition)
Page 103

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्याधिजन्मपर्यन्तं शरीरे दोषाणां परिणामपरम्परा-सम्प्राप्तिः

वृद्धिगत दोषों से चय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय एवं व्यक्तिपूर्वक जिस प्रकार रोग की उत्पत्ति होती है, उसे सम्प्राप्ति कहते हैं। यह रोगोत्पत्ति का घटनाक्रम है। इसके अन्तर्गत निदान और चिकित्सा के बीच की सभी घटनाओं का समावेश है। इसमें संक्षेपतः दोष, दूष्य, स्रोतस, अधिष्ठान, आमाशयोत्थ, पक्वाशयोत्थ आदि बातों का रोगोत्पत्ति के दृष्टिकोण से वर्णन आता है। रोग सम्प्राप्तिपूर्वक ही हुआ करते हैं और सम्प्राप्ति-विघटन ही 'चिकित्सा' है। सम्प्राप्ति, जाति, आगति, निर्वृत्ति एवं निष्पत्ति ये पर्यायवाची शब्द हैं। चरक ने सम्प्राप्ति के पाँच भेद किये हैं–(१) संख्या (२) विकल्प (३) प्राधान्य (४) विधि और (५) वलकाल। वाग्भट ने विधि का संख्या में अन्तर्भाव किया है और वलकाल को पृथक् वल और काल माना है। इस प्रकार उनके दृष्टिकोण से ५ भेद इस प्रकार हुए—संख्या, विकल्प, प्राधान्य, वल और काल।

चरक-सूत्रस्थान अष्टोदरीय (१९वाँ अध्याय) में रोगों के भेदों की संख्या बतायी गयी है। यही संख्या-सम्प्राप्ति है। पंचकास, पंचगुल्म, आठ प्रकार के ज्वर, पांच प्रकार के पाण्डु आदि रोग-भेद संख्या-सम्प्राप्ति द्वारा समझाये जाते हैं।

दोषों की अशांश कल्पना करना विकल्प है। यह विशेषतः त्रिदोषज रोगों में काम आता है। किस दोष का कौन-सा गुण-कर्म कितनी सीमा (उग्र, मृदु) तक प्रकुपित हुआ है, इसका ज्ञान विकल्प-सम्प्राप्ति से होता है।

'प्राधान्य' भी किसी विशिष्ट दोष की उस रोग की उत्पत्ति में प्रधानता बताने के कारण त्रिदोषज रोगों में ही महत्त्व रखता है। त्रिदोषज व्याधियों में जिस दोष की प्रधानता होती है उसके लक्षण भी प्रधान होते हैं।

'विधि' प्रकार को कहते हैं, यथा व्याधियों के भेद—निज, आगन्तुक आदि; साध्यासाध्य आदि; मृदु, दारुण आदि।

वलकाल में व्याधि का उत्पत्तिकाल एवं उग्र होने का काल समाविष्ट है। रोग का या दोष का दिन, रात्रि, ऋतु, वय आदि से सम्बन्ध स्थापित कर रोगोत्पत्ति एवं उसकी वृद्धि (उग्रता) का ज्ञान 'वलकाल' सम्प्राप्ति से किया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुश्रुत का सम्प्राप्तिपरक वर्णन

सुश्रुत ने सम्प्राप्ति की छः अवस्थाएँ बतायी हैं—संचय (चय), प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति और भेद । इन ६ में से भेदावस्था सम्प्राप्ति (व्याध्युत्पत्ति) के बाद की अवस्था है अतः इसे सम्प्राप्ति की अवस्था के रूप में नहीं भी लें सकते । यदि भेद का अर्थ वातादिभेद भी स्वीकार हो तो भेद को भी सम्प्राप्ति के अन्तर्गत ले सकते हैं । सुश्रुत ने छठी क्रियाकाल बताने के लिए ही भेद को भी सम्प्राप्ति-अवस्थाओं के साथ जोड़ा है । वृद्ध वाग्भट और वाग्भट ने सम्प्राप्ति की चय और प्रकोप ये दो ही अवस्थाएँ बतायी हैं । यह चरक के ऋतुओं के अनुसार दोषों का चय-प्रकोप (प्रशम) से मिलता-जुलता है । वाग्भट के टीकाकार श्री हेमाद्रि ने प्रकोप में ही प्रसर, स्थान-संश्रय, व्यक्ति और भेद को समाविष्ट किया है ।

रोगोत्पत्ति की प्रक्रिया को सम्प्राप्ति कहते हैं । इस प्रक्रिया में दोष, दूष्य और स्रोतस भाग लेते हैं । इसी प्रक्रिया को तोड़ना सम्प्राप्ति-विघटन कहलाता है । सम्प्राप्ति-विघटन करना ही चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य है । सम्प्राप्ति की अवस्थाओं में से चय, प्रकोप, प्रसर तथा स्थानसंश्रय केवल दोषों का होता है । स्थानसंश्रयावस्था में ही दोषदूष्यसम्मूर्च्छना होती है और यहीं से दूष्य का भी रोगोत्पत्ति में कर्तृत्व प्रारम्भ होता है । स्रोतस इन सभी अवस्थाओं से सम्बन्धित होते हैं । यूँ तो सभी विकारों में सभी अवस्थाओं में दोष, दूष्य और स्रोतस का सम्प्राप्ति के दृष्टिकोण से समान महत्त्व है ।

चयावस्था

यह सम्प्राप्ति की प्रथम अवस्था है । इसके सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) 'चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव' के अनुसार दोषों का चय अपने ही स्थानों में होता है । प्रत्येक दोष के ५—५ भेद किये गये हैं और उन भेदों के स्थान भी बताये गये हैं । प्रश्न है कि क्या कोष्ठस्थ दोषों का ही चय होता है और वे ही स्वयं या अन्य भेदों को भी दुष्ट करके रोग उत्पन्न करते हैं ? या अवस्था विशेष के अनुसार दोषों के किसी भी भेद का अपने ही स्थान पर चय होता है, यथा—पाचकपित्त का चय ग्रहणी में, भ्राजक पित्त का चय त्वचा में, श्लेषक कफ का चय संधियों में, इत्यादि ।

इस प्रश्न का यह उत्तर है कि दोषों का चय उनके कोष्ठस्थ स्थानों पर ही होता है । कफ का प्रधान स्थान आमाशय, पित्त का प्रधान स्थान ग्रहणी और वायु का प्रधान स्थान पक्वाशय है । सम्प्राप्ति की पहली अवस्था में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिथ्या आहार से दोषों का चय इन्हीं स्थानों पर होता है। इसके बाद इन्हीं से इनके अन्य भेदों की दुष्टि हो सकती है। वस्तुतः विभिन्न स्थानों पर विशिष्ट कार्य को बताने के लिए ही दोषों के भेदों की कल्पना की गई है, अन्यथा दोष तो तीन ही हैं। क्योंकि चयावस्था कोष्ठ में प्रारम्भ होती है, इसीलिए व्याधियों को आमाशयोत्थ (कफज और पित्तज रोग) तथा पक्वाशयोत्थ (वातज रोग) इन दोनों भागों में भी बाँटा गया है। साथ ही चयावस्था को प्रथम क्रियाकाल बताया है और इस अवस्था में कोष्ठशुद्धि करने का विधान है।

(२) किसी भी चीज का संचित होना उसकी गति या मार्ग में अवरोध का द्योतक है। व्याधि की उत्पत्ति में निदान के वाद चय का क्रम आता है। प्रश्न है कि दोषों के संचित होने के लिए अवरोधक कब, किसने और कैसे उत्पन्न किया ?

इस प्रश्न का यह उत्तर है कि आम का मुख्य कार्य स्रोतोरोध बताया गया है। आम अग्निमांद्य से उत्पन्न होता है और अग्निमांद्य निदान से उत्पन्न होता है। सभी रोगों के निदान बताये गये हैं जिनमें अग्निमांद्योत्पादक कुछ भाव अवश्य होते हैं और प्रायः सभी रोगों में अग्निमान्द्य—रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ—तथा तज्जन्य आम की उपस्थिति स्वीकार की गई है।

(३) भोजन का पाचन भी पोष्य दोषों से ही होता है और उनका पोषण भी आहार (किट्ट) से ही होता है। आहार पर प्रथम पाचन-क्रिया प्रारम्भ करने के लिए पोष्य कफ उत्तरदायी है जिससे भोजन-पाचन की मधुरीभाव की अवस्था और इसी समय पोषक कफ की उत्पत्ति होती है जो कि अन्त में पोष्य कफ का पोषण करता है। इसी प्रकार अम्लीभाव की अवस्था में पित्त की और कटुभाव की अवस्था में वायु की स्थिति समझनी चाहिए। महास्रोतस की भित्ति से निकलने वाले सभी पाचक रस पोष्यभाव हैं। इस प्रकार धातु और मलों की तरह दोषों की भी पोष्य-पोषक कल्पना की गई है। प्रश्न है कि चय पोषक दोषों का होता है या पोष्य दोषों का ?

इसका उत्तर यह है कि जब अग्निमांद्य से आम उत्पन्न होता है तब वह कोष्ठस्थ सूक्ष्म स्रोतों, रक्तवाहिनियों, रसायनियों या शोषण-अंकुरों में अवरोधात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है। पोषकभावों का ठीक पाचन न होने से उनके शोषण में बाधा भी एक प्रकार की अवरोधात्मक प्रवृत्ति है। इस अवरोधात्मक प्रवृत्ति से पोषक दोषों का ही चय महत्त्व रखता है। यह भी संभव है कि एक ओर कोष्ठ में पोषक दोषों का चय हो और दूसरी ओर पोष्य दोषों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का। इस संभावना से चय और प्रकोप पोषक और पोष्य दोषों का होगा और प्रसर की अवस्था में पोषकदोष पोष्यदोष से मिल जायेगा। स्थान-संश्रय, व्यक्ति और भेद की अवस्था में दोनों मिश्रितरूप में कार्य करेंगे। स्वभावतः पोषक दोषों से विकृति का प्रारम्भ होने के कारण उनका रोगोत्पत्ति में प्राथमिक और अधिक महत्त्व है।

(४) दोषों के जो गुण वर्णित हैं उनकी विकृति से भिन्न-भिन्न व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। पित्त उष्णगुण से ज्वर, उष्ण और तीक्ष्णगुण से रक्तपित्त, सरगुण से अतिसार तथा द्रवगुण से अग्निमांद्य कर सकता है। प्रश्न है कि चय सारे दोष का होता है या उसके विशिष्ट गुणयुक्त अंश का ?

इसका आंशिक उत्तर निदान से दोषवृद्धि सिद्ध करते समय इससे पूर्व दिया जा चुका है। दोष की सर्वांगीण वृद्धि अथवा उसके एक या दो गुणों की वृद्धि हो सकती है। अधिकतर रोगों में किसी विशिष्ट गुण की ही वृद्धि होती है अतः उसी का अपेक्षाकृत अधिक चय माना है। वैसे तो अवरोधात्मक प्रवृत्ति के कारण सारे दोष का चय तो होता ही है और तदनुकूल लक्षण भी मिलते हैं। परन्तु सरलता के लिए 'किसी विशिष्ट गुण का चय' कह सकते हैं।

(५) चय के लिए अवरोध आम से उत्पन्न बताया गया है। अवरोध होने पर ही चय की कल्पना की गयी है। यदि चय और प्रकोपावस्था में अवरोध था तो वह प्रसरावस्था में कैसे हट गया ? अवरोध रहने पर तो दोषों का प्रसर हो नहीं सकता।

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रकोपावस्था में आम आमविष में परिवर्तित हो जाता है और यह आमविष स्वयं भी दोषों के साथ प्रसर करने लगता है। आमविष शरीर के सभी स्रोतों में विषवत् गति कर सकता है। चरक ने ग्रहणी के अध्याय में इसका सुन्दर संकेत किया है। इस प्रकार अवरोध के हट जाने पर दोषों का प्रसर हो सकता है।

(६) यदि प्रत्येक रोग के लिए सम्प्राप्ति की आवश्यकता होती है और सम्प्राप्ति 'चय' से प्रारम्भ होती है तो फिर क्षीण दोषों का चय सम्भव नहीं है, अतः दोषक्षय से रोग कैसे होता है ?

दोषक्षय से रोग उत्पन्न नहीं होते, यह बात 'विकारो धातुवैषम्यम्' के प्रकरण में सिद्ध की जा चुकी है। दोषक्षय एकदेशीय, अभावज या आवरण-जन्य हो सकता है। अतः उसका रोगोत्पत्ति से सीधा सम्बन्ध नहीं आता है।

(७) शास्त्रों में 'अचय-प्रकोप' का जो संकेत किया गया है और जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेषतः आगन्तुक व्याधियों में (मुख्यतः आघात से उत्पन्न व्याधियों में) मिलता है उसका अर्थ भी अल्पचय या अल्पकाल में चयपूर्वक प्रकोप करना चाहिए। चय चिकित्सा का प्रथम क्रियाकाल है, संचित दोषों की चिकित्सा करने का समय है।

प्रकोप

यह सम्प्राप्ति की दूसरी अवस्था है। इसमें दोषों का संचय बढ़ जाता है और दोष प्रसंरण की तैयारी करने लगते हैं। इस अवस्था में आम आमविष में परिवर्तित होता है। यह द्वितीय क्रियाकाल है। इस अवस्था में भी कोष्ठस्थ लक्षणों की ही उत्पत्ति विशेषतः बतायी गयी है, यथा—वायु की प्रकोपस्था में उदर में वेदना तथा उदर में वायु-प्रकोप; पित्त से अम्लोद्गार, तृषा तथा दाह और कफ से अरुचि तथा उत्क्लेश उत्पन्न होते हैं। इस सम्बन्ध में चरक चिकित्सास्थान १५।४२–४९ द्रष्टव्य है। प्रकोपावस्था द्वितीय क्रिया-काल है।

प्रसर

यह सम्प्राप्ति की तीसरी अवस्था है। आम के आमविष में बदलने पर अवरोध स्वतः हट जाता है क्योंकि आमविष सूक्ष्म तथा स्रोतोगामी है। दोष तथा यह आमविष कोष्ठ से शाखाओं में प्रसरण करता है। यह प्रसरण रक्त-वाहिनियों या लसिकावाहिनियों से होता है। यदि कोष्ठस्थ विकार ही उत्पन्न होता हो तो दोष कोष्ठ में ही किंचित् प्रसरण करते हैं। ऐसी अवस्थाओं में अन्न, मल (पुरीष) तथा आहाररस या रसधातु की दुष्टि विशेषतः होती है। दोषों का कोष्ठ से शाखाओं में जाना और संशोधन चिकित्सा करने पर शाखाओं से कोष्ठ में आना वर्णित है—(च. सू. २८।३१, ३३)। दोषों की इन गतियों के लिए कई सहायक कारणों के साथ वात को विशेषतः उत्तर-दायी माना गया है। यह वायु प्रकुपित दोषों को कोष्ठ से शाखाओं में ले जाता है। प्रसर अवस्था में यदि कोष्ठ में ही खवैगुण्य रहे तो वायु प्रकुपित दोषों को कोष्ठस्थ खवैगुण्य की ओर ही प्रेरित करता है और उससे कोष्ठस्थ व्याधियाँ ही उत्पन्न हो जाती हैं। आभ्यन्तर रोगमार्ग, मध्यम रोगमार्ग और बाह्य रोगमार्ग (च. सू. ११।४८) के वर्णन से भी यही अर्थ निकलता है कि प्रकुपित दोषों के प्रसरण के मुख्यतः तीन मार्ग हैं; कोष्ठ एवं कोष्ठांग, अस्थि, संधि, सिरा, स्नायु आदि और धातुएँ। कोष्ठांग भी मूल रूप में, तथा धातुएँ भी स्रोतों से सम्बन्धित हैं। कोष्ठ भी प्रस्तुत प्रकरण में अन्नवह और पुरीषवह-स्रोतस का संयुक्त स्वरूप है। इस प्रकार प्रसरण के लिए स्रोतस सर्वत्र व्याप्त हैं, परन्तु चय के लिए कोष्ठ तथा स्थानसंश्रय के लिए विभिन्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्रोतों को बताना तथा उनका विशिष्ट दृष्टिकोण से वर्णन करना ही 'त्रयो रोगमार्गाः' का अभिप्राय है। इस प्रकार दोष पूर्वोक्त तीन भागों में से किसी वायु की सहायता से प्रसर करते हैं। यह तृतीय क्रियाकाल है।

स्थानसंश्रय

यह संप्राप्ति की चतुर्थ अवस्था है और इसमें की जानेवाली चिकित्सा के लिए इसे चतुर्थ क्रियाकाल भी कहते हैं। 'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परि-धावताम्। यत्र सङ्गः खवैगुण्यात्, व्याधिस्तत्रोपजायते॥' इस शास्त्रीय वचन से यह सिद्ध है कि शरीर में प्रसर करते हुए दोषों को (निदान के द्वारा उत्पन्न) खवैगुण्य मिलता है जहाँ वे स्थानसंश्रय करते हैं। इसी समय दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना प्रारम्भ होती है और पूर्वरूप उत्पन्न होते हैं। 'दोषदूष्यसम्मूर्च्छनाजनितो व्याधिः' के आधार पर व्याधि की उत्पत्ति स्थानसंश्रयावस्था में होती है और 'व्यक्ति' की अवस्था में व्याधि पूर्णरूप से प्रकट हो जाती है। संक्षेपतः स्थानसंश्रय की अवस्था में—(१) दोषों का खवैगुण्य के स्थान पर रुकना, (२) दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना का प्रारंभ होना और (३) पूर्वरूपों की उत्पत्ति—ये तीन मुख्य घटनाएँ होती हैं।

पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः

प्रवृद्धदोष स्थानसंश्रय की अवस्था में भावि-व्याधिप्रबोधक जिन लक्षणों को उत्पन्न करते हैं उन्हें पूर्वरूप कहते हैं। जब दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना हो रही होती है तब पूर्वरूप उत्पन्न होते हैं और जब सम्मूर्च्छना हो जाती है तब व्याधिबोधक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। सम्मूर्च्छना पूर्ण होने पर स्रोतोदुष्टि होती है। अतः उसका (स्रोतोदुष्टि का) सम्बन्ध लक्षणों से स्थापित किया जाता है, पूर्वरूपों से नहीं। पूर्वरूप दो प्रकार के होते हैं—सामान्य पूर्वरूप और विशिष्ट पूर्वरूप। सामान्य पूर्वरूप से होनेवाली व्याधि का संकेत मिल जाता है, यथा—ज्वर के सामान्य पूर्वरूप मिलने पर ज्वर होगा ऐसा अनुमान करते हैं, परन्तु वातिकज्वर होगा, या पैत्तिक या कफज यह अनुमान नहीं लगा सकते। विशिष्ट पूर्वरूप से भावि-व्याधि के विशिष्ट भेदों (वातज, पैत्तिक आदि) का भी अनुभव कर सकते हैं। ज्वर के सामान्य और विशिष्ट पूर्व-रूपों का सुन्दर वर्णन है परन्तु विशिष्ट पूर्वरूप ३–४ रोगों के ही दिये गये हैं, सामान्य पूर्वरूप भी सभी व्याधियों में वर्णित नहीं हैं जिस पर विचार करना आवश्यक है। यहाँ यह भी अवधेय है कि व्याधि का ज्ञान या विनिश्चय उसके प्रत्यात्मलक्षण और लक्षण-समुच्चय के आधार पर होता है और इनका सम्बन्ध स्रोतोदुष्टि के लक्षणों से स्थापित किया जाता है जो कि दोष-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूष्य-सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होती है। यह बात सम्मूर्च्छना पर ही निर्भर करती है कि किस प्रकार की स्रोतोदुष्टि होगी। इसीलिए सम्मूर्च्छना की अवस्था में उत्पन्न होनेवाले पूर्वरूपों से भावि-व्याधि का ज्ञान होता है।

- क्योंकि प्रत्येक रोग में दोषदूष्य-सम्मूर्च्छना होती ही है, अतः पूर्वरूप भी होने ही चाहिए, भले ही वे व्यक्त हों या अव्यक्त। उरःक्षत और वात-व्याधियों के प्रकरण में बताये गये 'अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्' को उन सभी रोगों के लिए सामान्य नियम मान लेना चाहिए जिनमें पूर्वरूपों का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है।

रोग-नाम	मुख्य दोष	मुख्य दूष्य	पूर्वरूप	सामान्य लक्षण	आशुकारी/चिरकारी
१ प्रमेह	कफ	मेद	हैं	हैं	चि.
२ शोथ	वात	रस, रक्त	,,	,,	,,
३ शीतपित्त	वात	रक्त	,,	,,	आ.
४ उदर्द	कफ	रस, रक्त	,,	,,	,,
५ कोठ	कफ	रस, रक्त	,,	,,	आ.
६ ज्वर	पित्त	रस	,,	,,	,,
७ ग्रहणी	पित्त	रस (अन्न)	,,	,,	चि.
८ राजयक्ष्मा	त्रिदोष	रस सर्वधातु	,,	,,	,,
९ मूर्च्छा	वात	रस, रक्त	,,	,,	आ.
१० अपस्मार	वात, रज	रस, रक्त	,,	,,	,,
११ ऊरुस्तंभ	कफ	रस	,,	,,	,,
१२ तृष्णा	वात-पित्त	रस, उदक	,,	,,	,,
१३ पाण्डु	पित्त	त्वक्	,,	,,	,,
१४ अश्मरी	कफ	मूत्र	,,	,,	चि.
१५ वृद्धि	कफ (त्रिदोष)	रस	नहीं	नहीं	,,
१६ अर्बुद	कफ (त्रिदोष)	मांस, मेद	,,	,,	,,
१७ विद्रधि	पित्त (त्रिदोष)	रस, त्वक् मांस, रक्त	,,	,,	,,
१८ विसर्प	त्रिदोष	रस, रक्त त्वक् मांस	,,	,,	आ.
१९ अलसक	वात	रस, पुरीष	,,	,,	,,
२० विलम्बिका	वात	रस	,,	,,	,,
२१ स्वरभेद	वात	रस, रक्त	,,	,,	,,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२२ शूल	वात	रस	नहीं	नहीं	आ.
२३ उदावर्त	वात	अनेक	,,	,,	,,
२४ वातव्याधियाँ	वात	रस, रक्त आदि	,,	,,	आ. चि.
२५ श्लीपद	कफ, वात	रस	,,	,,	चि.
२६ कुष्ठ	त्रिदोष	रस, रक्त, त्वक् मांस	हैं	,,	,,
२७ अतिसार	वात	पुरीष, उदक	,,	,,	आ.
२८ अर्श	वात, त्रिदोष	मांस	,,	,,	चि.
२९ रक्तपित्त	पित्त	रक्त	,,	,,	आ.
३० कास	वात, कफ	रस	,,	,,	आ.
३१ हिक्का	वात, कफ	रस	,,	,,	आ.
३२ श्वास	वात, कफ	रस	,,	,,	आ./चि.
३३ छर्दि	कफ, वात	रस, (अन्य)	,,	,,	आ.
३४ वातरक्त	वात	रक्त	,,	,,	चि.
३५ उदर	वात (त्रिदोष)	रस, रक्त	,,	,,	आ.
३६ मेदोरोग	कफ	मेद	नहीं	,,	चि.
३७ गलगण्ड	कफ	मांस, मेद	,,	,,	चि.
३८ अपची	त्रिदोष	रस, रक्त, त्वक्, मांस	,,	,,	चि.
३९ ग्रन्थि	कफ, वात	मांस, मेद	,,	,,	चि.
४० व्रणशोथ	वात	रस, रक्त	,,	,,	आ.
४१ अम्लपित्त	पित्त	रक्त	,,	,,	आ.
४२ विसूचिका	त्रिदोष	रस, अन्न	,,	,,	आ.
४३ कृमि	त्रिदोष	रस, रक्त, पुरीष	,,	,,	चि.
४४ दाह	पित्त	रक्त	,,	,,	आ.
४५ उन्माद	वात, त्रिदोष रज, तम	रस, रक्त (मांस)	,,	,,	आ.
४६ उरःक्षत	वात, त्रिदोष	रस, रक्त (मांस)	,,	,,	आ.

उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की गई इस तालिका से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वोक्त ४६ व्याधियों में से—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१. १४ व्याधियों में पूर्वरूपों तथा सामान्य लक्षणों का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

२. १० व्याधियों में पूर्वरूपों का वर्णन है परन्तु सामान्य लक्षणों का नहीं है।

३. ११ व्याधियों में पूर्वरूप नहीं हैं परन्तु सामान्य लक्षणों का वर्णन है।

४. ११ व्याधियों में पूर्वरूप तथा सामान्य लक्षणों का वर्णन नहीं मिलता है।

पूर्वोक्त जिन व्याधियों में पूर्वरूप वर्णित हैं उनके सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रकरण में कोई प्रश्न नहीं है। जिनमें पूर्वरूप नहीं हैं परन्तु सामान्य लक्षण हैं, उनमें 'तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते' से सामान्य लक्षणों के मृदुरूप ही पूर्वरूप समझे जा सकते हैं जो कि अव्यक्त या अल्पव्यक्त होने के कारण रोगी को मालूम नहीं पड़ते और इसलिए उनका वर्णन नहीं किया गया है। जिन रोगों में पूर्वरूपों का भी वर्णन नहीं है और सामान्य लक्षणों का भी, उनमें रोगपरक लक्षणों के आधार पर पूर्वरूप बना लेना चाहिए। पूर्वरूपों के सभी रोगों में स्पष्ट न होने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) जो व्याधियाँ अल्पकाल तक निदान-सेवन से शीघ्र उत्पन्न (आशुकारी) होती हैं, उनमें दोष-दूष्य-सम्मूर्छना शीघ्र पूर्ण हो जाती है। अतः पूर्वरूप बहुत अल्पकाल में समाप्त हो जाते हैं या अल्पबल वाले होते हैं। इसलिए वे स्पष्टतः परिलक्षित नहीं हो पाते; रोगी को उनका ज्ञान नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ—अलसक, विलम्बिका, शूल, व्रणशोथ, विसूचिका, दाह आदि लिये जा सकते हैं। परन्तु जिन आशुकारी व्याधियों में दोषवृद्धि एवं दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना उग्र होती है और दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छनाजनित द्रव्य विशेष दूष्यों में व्याप्त हो जाता है, उनमें पूर्वरूप अल्पकाल के लिए स्पष्टतः परिलक्षित एवं ज्ञात होते हैं। अतः उनके पूर्वरूपों का वर्णन मिलता है, यथा—ज्वर, विसूचिका, शीतपित्त, रक्तपित्त, अतिसार, अपस्मार आदि।

(२) प्रकृति सम समवेत सम्मूर्च्छना वाली व्याधियों में प्रायः पूर्वरूप और रूपों में विशेष अन्तर नहीं होता। उनमें अल्पवेग और अल्पसंख्या में ही पूर्वरूप व्यक्त हो सकते हैं और वे ही पूर्ण व्यक्त होकर लक्षणों के रूप में सामने आते हैं। अतः सामान्य लक्षणों को ही मृदुरूप में पूर्वरूप समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ अम्लपित्त, उदावर्त, स्वरभेद, उरःक्षत, ज्वर, रक्तपित्त आदि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) जिन रोगों में पूर्वरूप भी वर्णित नहीं हैं और सामान्य लक्षण भी, उनके प्रत्यात्मलक्षण स्पष्ट हैं। इस वर्ग के रोगों में जो चिरकारी हैं, (यथा वृद्धि, अर्बुद, विद्रधि, श्लीपद) उनकी उत्पत्ति और वृद्धि को देखा जा सकता है और स्थान, रुजा तथा कफ वृद्धि के लक्षणों से उनके पूर्वरूप बताये जा सकते हैं। इसी प्रकार जो आशुकारी व्याधियाँ हैं और जिनके पूर्वरूप और सामान्य लक्षण वर्णित नहीं हैं (यथा—अलसक, विलम्बिका, स्वरभेद, शूल, उदावर्त) उनमें भी प्रत्यात्मलक्षणों तथा वायु के आधार पर पूर्वरूप बनाये जा सकते हैं।

इस प्रकार सभी रोगों में पूर्वरूपों की स्थिति स्वीकार की जाती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम्

व्यक्ति

यह संप्राप्ति की पाँचवीं अवस्था है। इसमें दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना पूर्णरूप से हो चुकी होती है। दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना से स्रोतोदुष्टि और पश्चात् प्रत्यात्मलक्षण तथा लक्षण-समुच्चय उत्पन्न होते हैं जिनके आधार पर विशिष्ट रोग का विनिश्चय किया जाता है। व्यक्ति की अवस्था में की जाने वाली चिकित्सा को ही चिकित्सा के अध्यायों में शास्त्रों में वर्णित किया गया है। व्यक्ति की अवस्था को 'पंचम क्रियाकाल' भी कहते हैं। इस अवस्था में (१) दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना का पूर्ण होना, (२) स्रोतोदुष्टि तथा उसके लक्षणों का प्रकट होना एवं (३) रोग के लक्षण-सम्मुच्चय का प्रगट होना—ये तीन मुख्य घटनाएँ हुआ करती हैं। रोगी 'व्यक्ति' अथवा 'भेद' की अवस्थाओं में ही चिकित्सक के पास या आतुरालयों में आते हैं। विषय से अत्यन्त सम्बन्धित होने के कारण व्याधि के सम्वन्ध में कुछ विवेचन करेंगे।

व्याधि किसे कहते हैं ?

'दोषदूष्यसम्मूर्च्छनाजनितो व्याधिः' यही व्याधि की उत्तम परिभाषा है। सम्मूर्च्छना से शरीरस्थ दोष, धातु, मल तथा स्रोतस में जो विकृति आती है उसी को शरीर लक्षणों के रूप में प्रगट करता है। शारीरिक व्याधियों में तो यह नियम माना जा सकता है और क्योंकि दोषादि सभी द्रव्य हैं, अतः विकृति या रोग भौतिक प्रकार के हैं। रोग कोई भाववाचक संज्ञा नहीं है। लक्षणों का, विशेषतः अनुभूतियों का भौतिक स्वरूप नहीं होता है। अर्थात् शूल, दाह, हृल्लास, गौरव, आलस्य, भ्रम आदि सभी लक्षण तदुत्पादक विकृति की ओर संकेत करते हैं और चिकित्सा विकृति की जाती है, लक्षणों की नहीं। जो लक्षण भौतिक हैं, चिकित्सक उनका ज्ञान रोगी की परीक्षा करके कर लेता है। भौतिक लक्षण यथा—नख, नेत्र आदि पाण्डुवर्ण के हों, जिह्वा मालिन्य, यकृत् वृद्धि आदि। इन विकृतियों से भी रोग का सम्बन्ध स्थापित कर रोगविनिश्चय किया जाता है। चिकित्सा से सम्प्राप्ति-विघटन करके या सीधे ही सम्मूर्च्छना को तोड़कर रोगी को लाभ पहुँचाया जाता है।

दोष, धातु तथा मलों के भौतिक एवं रासायनिक गुण-कर्मों का वर्णन मिलता है। दोषादिकों के जो गुण बताये गये हैं उन्हीं में से भौतिक एवं रासायनिक गुणों को पृथक्-पृथक् करके समझा जा सकता है। जब दोष-दूष्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्मूर्च्छना होती है तो स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सम्मूर्च्छना कितने प्रकार की होती है। इसके उत्तर में यह कह सकते हैं कि सम्मूर्च्छना से लक्षण उत्पन्न होते हैं जो कि (१) प्रकृतिसम-समवेत तथा (२) विकृतिविषम-समवेत—इस तरह दो प्रकार के बताये गये हैं। अतः तदुत्पादक सम्मूर्च्छना भी दो प्रकार की होनी चाहिए—(१) प्रकृतिसम समवेत सम्मूर्च्छना और (२) विकृतिविषम-समवेत सम्मूर्च्छना। दोष और दूष्य की भौतिक (Physical) प्रकार की सम्मूर्च्छना को प्रकृतिसम-समवेत सम्मूर्च्छना कहना चाहिए और ऐसे रोगों में प्रकृतिसम-समवेत लक्षण मिलेंगे। प्रकृतिसम-समवेत लक्षणों को उस रोग में कार्य कर दोष, दूष्य एवं स्रोतस की दृष्टि के लक्षणों से मिलाया जा सकता है, यथा ज्वर के सभी लक्षणों को देखें तो कुछ पित्तवृद्धि के, कुछ रसदुष्टि के और कुछ रसवहस्रोतोदुष्टि के लक्षण हैं। दोष और दूष्य की रासायनिक (Chemical) प्रकार की सम्मूर्च्छना को विकृतिविषम-समवेत सम्मूर्च्छना कहना चाहिए और ऐसे रोगों में विकृतिविषम-समवेत लक्षण मिलेंगे, यथा प्रमेह में जो लक्षण हैं वे सभी लक्षण कफ, मेद एवं मेदोवह-स्रोतस की दुष्टि के लक्षणों से नहीं मिलते। प्रमेह का प्रत्यात्मलक्षण 'प्रभूता-विल मूत्रता' स्वयं एक विकृतिविषम-समवेत लक्षण है। क्योंकि प्रकृतिसम-समवेत लक्षणों से किसी विशिष्ट दोष, दूष्य तथा स्रोतस की दुष्टि का अनुमान हो जाता है अतः उसमें दोष की चिकित्सा सरलतया की जा सकती है और इस तरह ऐसे रोगों में दोषप्रत्यनीक-चिकित्सा की जा सकती है अथवा प्रयुक्त औषध के कार्यों की दोषप्रत्यनीक-चिकित्सा के दृष्टिकोण से व्याख्या की जा सकती है। स्वभावतः इसमें बहुत औषधियाँ आ जाती हैं और बहुत रोग भी आ जाते हैं। शास्त्रों में भी दोषप्रत्यनीक-चिकित्सा को प्राथमिकता दी गई है। विकृतिविषम-समवेत सम्मूर्च्छना वाले रोगों में विशेषतः व्याधिप्रत्यनीक-चिकित्सा की जाती है। दोषप्रत्यनीक-चिकित्सा को रस, गुण, वीर्य, विपाक से समझाया जा सकता है जब कि व्याधिप्रत्यनीक-चिकित्सा को 'प्रभाव' से समझाया जाता है। जब प्रभाव या विकृतिविषम-समवेत सम्मूर्च्छना का स्वरूप सामने आयेगा तब उसकी चिकित्सा की भी रस-गुणानुसार व्याख्या की जा सकेगी।

रोग और लक्षण

लक्षणों से रोग का ज्ञान किया जाता है। लक्षण चयावस्था से ही प्रारम्भ होते हैं परन्तु उन्हें रोगनाम तब दिया जाता है जब दोषदूष्य-सम्मूर्च्छना हो चुकी हो। परन्तु यह कैसे कहा जाय कि यह रोग है या लक्षण? यदि आवि-ष्कृततम रोग होगा तो उस का प्रत्यात्मलक्षण तथा लक्षणसमुच्चय अवश्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिलना चाहिए। यदि केवल लक्षण रूप में होगा तो वह थोड़ी देर तक रहने वाला या पश्चात् रोग में परिवर्तित होनेवाला होगा; तब भी उसकी चिकित्सा रोगवत् की जाती है। रोग के प्रत्यात्मलक्षण का दोषदूष्य-सम्मूर्च्छंना के साथ विशिष्ट सम्बन्ध रहता है, शेष लक्षणों को उस रोग के लक्षण-समुच्चय में स्थान मिलता है। प्रत्येक लक्षण रोग भी हो सकता है और लक्षण भी, यथा—श्वास। श्वास लक्षण के रूप में पाण्डु, जलोदर, आध्मान, हृद्रोग, सान्निपातिक ज्वर, यक्ष्मा, क्षतज कास, आमाशयगत वात, त्रिदोषज छर्दि, कण्ठशुण्डी, तालुपाक, मेदोवृद्धि, प्लीहोदर या यकृद्दाल्युदर, अतिसार तथा विसूचिका आदि रोगों में मिलता है। परन्तु श्वास रोग के प्रत्यात्मलक्षण–सशब्द श्वास, बैठने से आराम और लेटने से कष्ट, कफ निकलने पर कुछ आराम तथा वेग के रूप में होना पूर्वोक्त रोगों में उपलब्ध श्वास में नहीं मिलते। इसी प्रकार उदरोत्सेध लक्षण कई रोगों में, यथा—जलोदर, आनाह, आध्मान, उदावर्त, गर्भ, ग्रन्थि, अर्बुद आदि में मिल सकता है परन्तु यदि परिवृत्त नाभि, उदर-आकोटन से दृतिवत् क्षोभ, कम्प और शब्द मिलें तो यह उदरोत्सेध जलोदर का ही लक्षण है, ऐसा समझा जाता है। किसी भी रोग, लक्षण या उपद्रव को समझाने के लिए दोष, दूष्य तथा स्रोतस को ध्यान में रखना चाहिए। पूर्वोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हुई कि (१) लक्षण एक है और रोग में कई लक्षण होते हैं; (२) लक्षण चयादि अवस्था से प्रारम्भ हो जाते हैं और तब वे केवल दोषपरक होते हैं जब कि रोग स्थानसंश्रय और व्यक्ति की अवस्था में दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छंना होने पर उत्पन्न होते हैं; (३) प्रत्येक लक्षण एक रोग भी हो सकता है और प्रत्येक रोगवाचक संज्ञा एक लक्षण के रूप में भी मिलती है और इसीलिए यदि प्रत्यात्मलक्षण तथा लक्षणसमुच्चय मिलें तो रोग अन्यथा लक्षण समझना चाहिए। व्याधिप्रत्यनीक-चिकित्सा में लक्षण-समुच्चय के आधार पर रोगविनिश्चय करना बहुत आवश्यक है, क्योंकि श्वास यदि रोग रूप में है तभी उसकी व्याधिप्रत्यनीक-चिकित्सा से उसमें लाभ होगा अन्यथा नहीं। इसीलिए लक्षण और रोग को समझना आवश्यक है। दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छंना तथा उससे उत्पन्न होने वाली स्रोतोगत विकृति का नाम रोग है। स्रोतस में सभी स्रोतस, स्रोतोमूल तथा अधिष्ठानों का समावेश है। इन विकृतियों से कई लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं जिनका सम्बन्ध दोषों, दूष्यों या स्रोतों के साथ स्थापित किया जा सकता है या विकृतिविषम-समवेत लक्षण माना जा सकता है। सम्मूर्च्छंना एवं स्रोतोदुष्टि किसी भी रोग के प्रत्यात्मलक्षणों को पैदा करते हैं। रोग की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न लक्षणों को 'लक्षण' कहा गया है और रोगोत्पत्ति के पश्चात् उस रोग के दोष, दूष्य अथवा स्रोतस अधिक विकृत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होकर या अन्य स्रोतों की विकृति होने से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उन्हें उपद्रव कहते हैं। उपद्रव इस बात की ओर संकेत करते हैं कि रोग अपनी सीमा का उल्लंघन कर रहा है जो कि उसके अधिक कष्टदायक और दुश्चिकित्स्य बनने की ओर संकेत करता है। अतएव उपद्रव स्थूल हो या अणु, उसकी ओर तुरन्त ध्यान देने और उसकी चिकित्सा करने का विधान है।

रोग के लिए सम्प्राप्तिपूर्वक होना एक अनिवार्यता है, लक्षण के लिए सम्प्राप्तिपूर्वक होना आवश्यक नहीं, लक्षण तो समाप्ति की एक अवस्था के भी होते हैं। शास्त्रों में वर्णित नानात्मज विकार महदंशों में लक्षण हैं जब कि सामान्यज विकार रोग हैं। लक्षण एकदोषज होते हैं, रोग में प्रायः तीनों दोष सम्पृक्त होते हैं और एक दोप की प्रधानता रहती है।

व्याधि का आशुकारित्व और चिरकारित्व

निदान के सेवन से बहुत कम समय में उत्पन्न होनेवाले; चिकित्सा करने से शीघ्र ठीक होने वाले तथा चिकित्सा में विलम्ब करने पर शीघ्र मृत्यु करनेवाले रोगों को 'आशुकारी' कहते हैं। इन आशुकारी व्याधियों में जो दूष्य होता है प्रायः तद्वहस्रोतस में ही स्थानसंश्रय होता है और प्रायः एक ही स्रोतस अधिक दुष्ट होता है। आशुकारी व्याधियों में अतिसार, विसूचिका, ज्वर, अलसक, विलम्बिका, शूल, तृष्णा, छर्दि, मूर्च्छा, उरःक्षत, मदात्यय आदि व्याधियों को ले सकते हैं।

निदान के अधिक दिन तक सेवन करने से उत्पन्न और अधिक काल तक चिकित्सा करने पर ठीक होनेवाले रोगों को 'चिरकारी' कहते हैं। इनमें कई स्रोतस दुष्ट हो सकते हैं; अवयव सम्बन्धी विकृति हो सकती है तथा जो दूष्य होता है तद्वहस्रोतस से भिन्न स्रोतस में भी अधिष्ठान हो सकता है। चिरकारी व्याधियों में ग्रहणी, उदररोग, अर्श, राजयक्ष्मा, कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, कामला, श्वास, वातव्याधि आदि रोगों को ले सकते हैं।

सम्प्राप्ति की भेदावस्था

यह सम्प्राप्ति की छठी अवस्था है। शल्यतन्त्र में भेद का सम्बन्ध व्रणभाव के प्राप्त होने से विशेष है। रोगों की जीर्णता भी भेद से अभिप्रेत हो सकती है। रोग के दोषानुसार भेद करना, यथा—वातिक कास, पैत्तिक कास आदि, भी भेद के अन्तर्गत समझा जाता है। यह 'षष्ठ क्रियाकाल' भी कहा जाता है। रोग का साध्य या असाध्य में परिणत होना भी भेद के अन्तर्गत समझना चाहिए। आचार्य श्रीयादवजी त्रिकमजी ने अपनी पुस्तक 'आयुर्वेदीय व्याधि विज्ञान (पूर्वार्ध)' में भेदावस्था को सम्प्राप्ति के अन्तर्गत नहीं लेने का विचार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यक्त किया है, क्योंकि रोगोत्पत्ति के बाद भेदावस्था का क्षेत्र है जब कि सम्प्राप्ति का क्षेत्र रोगोत्पत्ति तक ही है, पश्चात् नहीं।

स्रोतोदुष्टि

'तदेतत् स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्' से रोगोत्पत्ति में स्रोतोदुष्टि का होना आवश्यक बताया गया है। क्यों कि प्रत्येक रोग में स्रोतोदुष्टि होनी ही चाहिए, अतः प्रत्येक रोग की सम्प्राप्ति में तन्निर्देशक वर्णन अवश्य मिलना चाहिए। चरक ने स्रोतस के निम्नलिखित पर्याय गिनाये हैं—'स्रोतांसि, सिराः, धमन्यः, रसायन्यः, रसवाहिन्यः, नाड्यः, पन्थानः, मार्गाः, शरीरच्छिद्राणि, संवृतासंवृतानि, स्थानानि, आशयाः, निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति' (च. वि. ५।९)। इन पर्यायों से सम्प्राप्तियों में स्रोतोदुष्टि बतायी गयी है। जहाँ स्पष्टतः किसी स्रोतस की विकृति का संकेत सम्प्राप्ति-वर्णन में न मिलता हो वहाँ दूष्यों के आधार पर स्रोतस की दुष्टि का अनुमान करना चाहिए।

विभिन्न रोगों की सम्प्राप्ति में प्रयुक्त स्रोतोदुष्टिसूचक शब्दों को नीचे तालिका में प्रस्तुत किया गया है—

१ **स्रोतांसि** रुधिरादीनाम्	राजयक्ष्मा	च० चि० ८।२९
२ **स्रोतांस्य**धिष्ठाय मनोवहानि।	उन्माद	,, ९।५
३ **धमनीभिः** सृता दोषा।	अपस्मार	,, १०।६
४ बाह्याः **सिराः** प्राप्य यदा कफासृक्।	शोथ	,, १२।८
५ **स्रोतसां** दूषणात्।	उदररोग	,, १३।१४
६ रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि, दोषाः **स्रोतांसि** सञ्चिताः।	उदररोग	,, १३।२०
७ **स्रोतः**सु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः।	अर्श	,, १४।८६
८ श्लेष्मणा रुद्ध**मार्गं** तम्।	शाखाश्रित कामला	,, १६।१२५
९ **हृदयस्य** रसादीनां धातूनां चोपशोषणो।	हिक्काश्वास	,, १७।८
१० मारुतः प्राणवाहीनि **स्रोतांस्या**विश्य कुप्यति।	,,	,, १७।१७
११ यदा **स्रोतांसि** संरुध्य।	श्वास	,, १७।४५
१२ अधः प्रतिहतो वायुरूर्ध्वं**स्रोतः**समाश्रितः।	कास	,, १८।६
१३ मूत्रस्वेदो **पुरीषाशय**मुपहृत्य।	अतिसार	,, १९।५
१४ वायुर्महा**स्रोतसि** सम्प्रवृद्धः।	छर्दि	,, २०।७
१५ **रसायनीभि**र्विसृतं प्रपीड्य।	,,	,, २०।१०
१६ यस्मिश्चा**वकाशे** विसर्पोऽनुविसर्पति।	विसर्प	,, २१।३०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१७ **रसवाहिनीश्च**···संशोष्य ।	तृष्णा	च. चि. २२।६
१८ मद्यं **हृदय**माविश्य ।	मदात्यय	,, २४।२९
१९ क्रुद्धः **स्रोतःसु** मारुतः ।	मदात्यय	,, २४।११७
२० बहि**र्मार्गं** समाश्रित्य ।	व्रण	,, २५।१०
२१ **स्रोतांस्य**धोगामि बली स रुद्ध्वा ।	उदावर्त	,, २६।५
२२ मूत्रस्य **मार्गं** परिपीडयन्ति ।	मूत्रकृच्छ्र	,, २६।३३
२३ देहे **स्रोतांसि** रिक्तानि ।	वातव्याधि	,, २९।१८
२४ रक्तेनावारितः **पथि** ।	वातरक्त	,, २९।१०
२५ रसस्वेदवहानि **स्रोतांसि** पिधाय ।	ज्वर	च० नि० १।२०
२६ लोहितवहानां च **स्रोतसां**···प्रतिरुन्ध्यात् ।	रक्तपित्त	,, २।४
२७ स प्रकुपितो वायुः **महास्रोतो**नुप्रविश्य ।	गुल्म	,, ३।७
२८ मूत्रवहानां च **स्रोतसां**···प्रतिरुध्यते ।	प्रमेह	,, ४।८
२९ दोषाः प्रकुपिताः **स्थान**मधिगम्य ।	कुष्ठ	,, ५।६

उपर्युक्त सम्प्राप्ति वाक्यों में विभिन्न शब्दों द्वारा स्रोतोदुष्टि का संकेत किया गया है। कुछ में तो स्रोतोदुष्टि का प्रकार भी बतला दिया गया है, यथा—उदररोग, उदावर्त, शाखाश्रित कामला तथा श्वास में। परन्तु अन्य में स्रोतोदुष्टि के प्रकार का संकेत नहीं किया गया है। लक्षणों के आधार पर सभी रोगों में, जो यहाँ नहीं गिनाये गये हैं, उनमें भी स्रोतोदुष्टि और उसके प्रकार का अनुमान कर लेना चाहिए।

स्रोतोदुष्टि और खवैगुण्य में अन्तर

यद्यपि शाब्दिक अर्थ से ये दोनों शब्द पर्यायवाची लगते हैं, परन्तु इनमें स्पष्ट अन्तर है। खवैगुण्य निदान के एक विशिष्ट अंश से होता है और यह सम्प्राप्ति की स्थानसंश्रयावस्था के लिए आवश्यक है। स्रोतोदुष्टि दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होती है और यह सम्प्राप्ति की 'व्यक्ति' की अवस्था में होती है। निम्नलिखित तालिका से संक्षेपतः दोनों में अन्तर दिखाया गया है—

खवैगुण्य	स्रोतोदुष्टि
१ यह दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना से पूर्व की अवस्था है।	१ यह दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना के बाद की अवस्था है।
२ यह दोषों के स्थानसंश्रय के लिए आवश्यक है।	२ यह लक्षणों की व्यक्ति के लिए आवश्यक है।
३ यह निदान के एक विशिष्ट अंश से उत्पन्न होता है।	३ यह दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

४ शास्त्रों में इसके ज्ञान के लिए कोई लक्षण निर्दिष्ट नहीं है।	४ स्रोतोदुष्टि के चार लक्षण या प्रकार बताये गये हैं।
५ स्रोतोदुष्टि के लक्षणों से इसके पूर्व अस्तित्व का अनुमान होता है।	५ स्रोतोदुष्टि के लक्षणों से इसका ज्ञान होता है।
६ दोषप्रत्यनीक-चिकित्सा से इस पर अपेक्षाकृत सम्यक् और शीघ्र प्रभाव पड़ता है।	६ व्याधिप्रत्यनीक-चिकित्सा से इस पर अपेक्षाकृत सम्यक् और शीघ्र प्रभाव पड़ता है।
७ इसके ठीक होने पर रोग ठीक होता है। लीन दोष भी नहीं रहते और पुनरावर्तन की संभावना नहीं रहती है।	७ इसके ठीक होने पर रोग ठीक होता है, परन्तु लीन दोष रह जाते हैं और पुनरावर्तन की संभावना रहती है।
८ रोग का समूलोच्छेदन तभी होता है जब खवैगुण्य भी ठीक हो जाय।	८ स्रोतोदुष्टि के ठीक होने से लक्षणोपशम होता है, रोग का समूलोच्छेदन नहीं।

ऊपर दी गई तालिका से स्रोतोदुष्टि और खवैगुण्य में स्पष्ट अन्तर प्रतिपादित किया गया है।

स्रोतोदुष्टि के प्रकार

स्रोतोदुष्टि चार प्रकार की बतायी गयी है; अतिप्रवृत्ति, संग, सिराग्रन्थि और विमार्गगमन। अतिप्रवृत्ति, संग और विमार्गगमन स्रोतों में रहनेवाले दूष्यों का होता है परन्तु सिराग्रन्थि स्रोतस में ही वैकारिक रूप में उत्पन्न होती है। आघात से या संग से विमार्गगमन हो सकता है और निज व्याधियों में विमार्गगमन प्रायः संगपूर्वक ही होता है। अतः मुख्यतः अति-प्रवृत्ति और संग ही अधिक होते हैं। इनमें से भी संग सब से अधिक व्याधियों में मिलता है, कारण कि प्रायः सभी विकारों में अग्निमांद्य और तज्जन्य आम की कल्पना की गई है और यह आम स्रोतों में संग उत्पन्न करता है।

अतिप्रवृत्ति

दूष्य की एकस्थानीय वृद्धि से या स्रोतस की गति बढ़ जाने से दूष्य का अधिक मात्रा में या/और बार बार प्रवृत्त होना (बाहर निकलना) अतिप्रवृति कहलाता है। स्रोतोदुष्टि का यह प्रकार अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, प्रमेह, प्रदर, असृग्दर रोगों में मिलता है। जिन बहिर्मुख स्रोतों से जो दूष्य स्वस्थावस्था में भी निकलते हैं उन्हीं की अधिक और/या बार बार प्रवृत्ति को अतिप्रवृत्ति कहते हैं।

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संग

संग का अर्थ है अवरोध, रुकावट या रुक जाना। किसी भी स्रोतस में अवरोध होने से तत्रस्थ दोष एवं दूष्य ठीक प्रकार से गति नहीं कर सकते। 'दूष्य में दोषदूष्य-सम्मूर्च्छना से विकृति आने पर भी इसी प्रकार की संगात्मक प्रवृत्ति भी पैदा हो सकती है। संग अधिक होने पर दूष्य का विमार्गगमन हो जाता है, यथा—श्वास, जलोदर, शोथ आदि में। संग की स्थिति में दोष या दूष्य के एकस्थानीय वृद्धि और अन्यस्थानीय क्षय के लक्षण मिलते हैं, यथा—शोथ में शोथयुक्त भाग में रसवृद्धि के तथा हृद्द्रवत्व, रौक्ष्य, आयासज श्वास से रसक्षय के लक्षण मिलते हैं। इसी प्रकार जलोदर में उदर में जलवृद्धि तथा तृषा, रौक्ष्य आदि से उदक के क्षय का ज्ञान; इसी प्रकार ज्वर में त्वचा में ऊष्मा की वृद्धि और आमाशय में ऊष्मा का क्षय (अग्निमांद्य); शाखाश्रित कामला में त्वचा में रक्त के मलभूत पित्त की वृद्धि तथा आन्त्रों में उसके क्षय के लक्षण (तिलपिष्टनिभं वर्चः, श्वेतवर्चः)। संग के अधिक होने पर ही एकस्थानीय वृद्धि तथा अन्यस्थानीय क्षय के लक्षण मिलते हैं; संग अल्प हो तो नहीं मिलते। रोगों या लक्षणों की उत्पत्ति के साथ स्रोतोदुष्टि का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

१. संग विशेषतः अधिक आमविष से युक्त सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होता है, यथा—श्वास, कास, जलोदर, ज्वर, शोथ आदि में।

२. कई व्याधियों में आमविष से किसी स्रोतस या स्रोतोमूल में संगात्मक विकृति आ जाती है और वह स्रोतस या अवयव शोथयुक्त या शोथ शान्ति के बाद व्रणवस्तुयुक्त बनकर संग के लक्षण पैदा करते हैं, यथा—हृद्रोग तथा यकृद्दाल्युदर में। ऐसी अवस्थाएँ प्रायः असाध्य होती हैं।

३. समीपवर्ती स्रोतस या अवयव से दूसरे स्रोतस पर दबाव पड़ने में भी संगात्मक लक्षण पैदा हो जाते हैं, यथा—आध्मान या जलोदर में श्वास, अजीर्ण में हृत्पीड़ा आदि।

पूर्वोक्त १, २ संग-प्रधान व्याधियों में, और सं० ३ संग-प्रधान लक्षणों में मिलते हैं। सामान्यतः संगात्मक व्याधि हो या लक्षण, उसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध आम से स्थापित किया जाता है।

निम्नलिखित व्याधियों में स्रोतोदुष्टि का 'संग' लक्षण मिलता है। श्वास, कास, प्रतिश्याय, उरःशूल, उदररोग, अग्निमांद्य, छर्दि, शूल, ज्वर, शोष, पाण्डु, हृद्रोग, कामला (शाखाश्रित), शोथ, कुष्ठ, दद्रु, विचर्चिका, पामा, पाददारि, विद्रधि, शीतपित्त, शिरःशूल अर्धावभेदक, अर्श, अर्बुद, अपची, ग्रन्थि,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गण्डमाला, श्लीपद, मेदोरोग, वातरक्त, विबंध, आनाह, आध्मान, जलोदर, भ्रम, गृध्रसी, उदावर्त, अश्मरी आदि।

संग और आवरण में विभेददर्शक तालिका

संग	आवरण
१. दोष तथा दूष्यों का स्रोतस में रुकना।	१. दोषों के द्वारा दूष्यों का या दोषों का आवरण।
२. दोषदूष्य-सम्मूर्च्छनाजनित स्रोतोदुष्टि का एक प्रकार है। इसमें दोषों तथा दूष्यों की प्राकृत गति में बाधा आती है।	२. एक प्रवृद्ध दोष दूसरे दोष या धातु को आवृत कर देता है जिससे दोष या दूष्य कार्य नहीं कर पाता।
३. जिस दोष या दूष्य का संग हुआ हो, उसके एक स्थान में वृद्धि के लक्षण और अन्यत्र क्षय के लक्षण मिल सकते हैं।	३. आवृत के लक्षण क्षीण या बिल्कुल नहीं, आवरक के लक्षण उग्र होते हैं।
४. संग के बाद विमार्गगमन सम्भव है।	४. आवरण से विमार्गगमन नहीं होता है।
५. दीपन-पाचन तथा स्रोतःशोधी चिकित्सा से लाभ होता है।	५. आवरक की चिकित्सा से लाभ होता है।
६. संग आम से होता है।	६. आवरण दोषों तथा दूष्यों से होता है।

आयुर्वेद में आवरण का विस्तृत वर्णन है और कई वातव्याधियों में इसकी व्याख्या की जा सकती है।

विमार्गगमन

दूष्य का (तथा दोषों का) अपने स्रोतस से बाहर निकलना विमार्गगमन कहलाता है; यथा—श्वास, शोथ, रक्तपित्त, जलोदर में। विमार्गगमन स्रोतस की भित्ति की प्रवेश्यता बढ़ जाने से या आघात लगने से स्रोतस की भित्ति के टूट जाने पर होता है। दूष्य के एक स्थान पर अधिक संचित होने से भी स्रोतस पर दबाव पड़कर स्रोतस की प्रवेश्यता बढ़ जाती है और उस दूष्य का विमार्गगमन हो जाता है। विमार्गगमन निम्नलिखित व्याधियों में मिलता है—जलोदर, शोथ, रक्तपित्त, कामला (शाखाश्रित) आदि। अवधेय है कि इन सब रोगों में संगपूर्वक विमार्गगमन हुआ करता है। आघात लगने पर रक्त का निकलना भी रक्त का विमार्गगमन कहलाता है। विमार्गगमन,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विलोमगति या प्रतिलोमगति तथा आशयापकर्ष—इन शब्दों का कई स्थलों पर एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया मिलता है। फिर भी, इनमें कुछ अन्तर नीचे दी गयी तालिका में बताया गया है—

	विमार्गगमन	आशयापकर्ष	विलोम, प्रतिलोम गति
१.	विशेषतः दूष्यों का।	विशेषतः दोषों का।	केवल दोषों की, उनमें भी विशेषतः वायु की।
२.	स्रोतस से बाहर जाना (जलोदर) या उसी स्रोतस को या स्रोतो-मूल आदि को फैलाना और पश्चात् उसमें स्थिर हो जाना (श्वास)	एक स्रोतस का अव-यव से दूसरे स्रोतस में खींचा जाना	स्रोतस से बहिर्गमन नहीं होता, अपितु स्रोतस में ही विपरीत गति।
३.	स्रोतोदुष्टि के लक्षणों में गिनाया गया है, अतः इसमें स्रोतो-विकृति भी होती है।	स्रोतोदुष्टि के लक्षणों में नहीं गिनाया गया है।	स्रोतोदुष्टि के लक्षणों में नहीं गिनाया गया है।
४.	संग या आघात से।	बिना संग तथा आघात के।	संगपूर्वक या बिना संग के भी।
५.	स्रोतोदुष्टि एवं तत्रस्थ दूष्य की स्थानिक वृद्धि महत्त्वपूर्ण।	जो दोष दूसरे दोष को अपने आशय में खींचता है, उस दोष तथा आशय का अधिक महत्त्व।	स्वयं दोष का ही अधिक महत्त्व।

इस तालिका के आधार पर इनमें विभेद किया जा सकता है।

सिराग्रंथि

इनमें स्रोतस में रचना सम्बन्धी विकृति हो जाती है और उनमें ग्रन्थि-वत् विकृति दीखती है। यह अर्श में ही विशेषतः मिलती है। कृमिज हृद्रोग में भी 'ग्रन्थिस्तत्रोपजायते' लिखा हुआ है।

स्रोतोदुष्टि के चार प्रकारों में से संगप्रधान व्याधियों की संख्या सबसे अधिक है। संग प्रायः आम से (आमविषसे) और आम अग्निमांद्य से होता है अतः अधिकतर व्याधियों में अग्निमांद्य की उपस्थिति मिलती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवधेय : स्रोतोदुष्टि दोषदूष्य-सम्मूर्च्छना से होती है। जिस स्रोतस में (निदान के द्वारा उत्पन्न) खवैगुण्य रहता है उसी में दोषों का स्थानसंश्रय होता है, सम्मूर्च्छना होती है और स्रोतोदुष्टि होती है। यह सम्मूर्च्छना पर तथा किस प्रकार का खवैगुण्य है, इस पर निर्भर करता है कि स्रोतोदुष्टि का कौन-सा लक्षण प्रकट होगा। इसका यह अर्थ हुआ कि खवैगुण्य सभी रोगों में एक ही प्रकार का नहीं हो सकता। अतिसार के निदान से अतिसार ही उत्पन्न होगा—यह कहना इस बात का विश्वास दिलाना है कि उस में होनेवाली दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना से पुरीषवहस्रोतस का दुष्टिलक्षण—अतिप्रवृत्ति—ही मिलेगा। चिकित्सा के दृष्टिकोण से धातुवर्धक आहार-विहार उनके स्रोतों को बल देने वाले भी होते हैं। रसवर्धक आहार-विहार रसवहस्रोतों का बलवर्धक भी होगा—इसी प्रकार सर्वत्र समझें। इसीलिए, यद्यपि सभी स्रोतों की चार प्रकार की दुष्टि बतायी गयी है। चिकित्सा में जो द्रव्य पुरीषस्तम्भक हैं वे रक्तस्तम्भक नहीं भी हैं। स्पष्टतः स्रोतोदुष्टि को ध्यान में रखकर की जाने वाली चिकित्सा में दूष्य का भी मुख्य स्थान है। प्रत्येक रोग की सम्प्राप्ति में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

१. दोष
२. दूष्य
३. स्रोतस तथा स्रोतोदुष्टि लक्षण
४. आमाशयोत्थ एवं पक्वाशयोत्थ
५. आशुकारी एवं चिरकारी
६. अग्नि की स्थिति (अग्निमांद्य)

सम्प्राप्ति और चिकित्सा का सम्बन्ध

चिकित्सा रोग की निवृत्ति के लिए की जाती है। रोग किसी विशिष्ट स्रोतस या स्थान में दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छनाजनित हुआ करता है। रोगोत्पत्ति की प्रक्रिया को सम्प्राप्ति कहते हैं। सम्प्राप्ति-विघटन ही चिकित्सा है। प्रत्येक रोग की सम्प्राप्ति में दोष, दूष्य, स्रोतस तथा अग्निमांद्य का ध्यान रखते हैं और इसीलिए दोषशोधन या शमन; दूष्यों, विशेषतः रसरक्तादि धातुओं, का पोषण; स्रोतस-अवयव-अधिष्ठान की शुद्धि (विशेषत, संग-निवारण) तथा अग्नि को प्राकृत अवस्था में लाने के लिए दीपन-पाचन प्रक्रियाएँ ही चिकित्सा है। चिकित्सा को दोषप्रत्यनीक, व्याधिप्रत्यनीक एवं उभयप्रत्यनीक—इस प्रकार तीन भागों में विभक्त करते हैं। जो व्याधिप्रत्यनीक है वह अधिकांश में दोषप्रत्यनीक भी रहता है, परन्तु जो दोषप्रत्यनीक है वह अल्पांशों में ही व्याधिप्रत्यनीक होता है। केवल दोष या दूष्य को ठीक करने की अपेक्षा दोनों को ठीक करना अधिक एवं आशु-लाभकारी होने से उभयप्रत्यनीक चिकित्सा अधिक उपयुक्त है। यदि दोषदूष्यसम्मूर्च्छना प्रकृतिसम-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समवेत प्रकार की हो तो दोषप्रत्यनीक-चिकित्सा करना सरल है, परन्तु यदि विकृतिविषम-समवेत सम्मूर्च्छना हो तो व्याधिप्रत्यनीक-चिकित्सा अधिक सरल पड़ती है। शास्त्रों में यथा (चरक सूत्रस्थान ४ थे तथा २५वें अध्याय में) व्याधिप्रत्यनीक-चिकित्सा का पर्याप्त वर्णन मिलता है। रस, भस्म तथा आसव आदि का भी व्याधिप्रत्यनीकत्व ही अधिक वर्णित है। सभी व्याधि-प्रत्यनीक-चिकित्सा में दोषदूष्य-सम्मूर्च्छना को तोड़ देते हैं तथा सम्मूर्च्छना-जन्य विकृति को ठीक करते हैं। कुछ औषधियाँ प्रभावित स्रोतस पर सीधा प्रभाव डालकर कुछ लाभ पहुँचाती हैं, यथा—कनकासव का श्वास (प्राणवह-स्रोतस) पर प्रभाव; अहिफेन का अतिसार (पुरीषवहस्रोतस) पर प्रभाव; अर्जुनत्वक् का हृद्रोग (रसवहस्रोतस, तन्मूल हृदय) पर प्रभाव, शरपुंखा का यकृत्वृद्धि + प्लीहावृद्धि (रक्तवहस्रोतस, तन्मूल) पर प्रभाव आदि। द्रव्य-गुणशास्त्र में कई द्रव्यों का कई अवयवों या स्रोतों पर प्रभाव वर्णित है। इसे स्रोतःप्रत्यनीक चिकित्सा कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त दूष्य को निकालना या दूसरे मार्ग से प्रवृत्त करना भी एक चिकित्सा है, यथा—वातातिसार में शरीर से उदक पक्वाशय में खींचा जाता है (विमार्गगमन) और यदि श्वेत-पर्पटी देकर उस विमार्गगामी उदक को मूत्रवहस्रोतस से बाहर निकाल दिया जाय तो वातातिसार शान्त हो जाता है (अतिसार—स्नातकोत्तर महानिबन्ध, १९६९—बलवन्त सी० भट्ट)। सम्प्राप्तिपरम्परा को मूलतः छिन्न करने के लिए निदान-परिवर्जन तथा दीपन-पाचन चिकित्सा की जाती है। इस प्रकार सम्प्राप्ति-घटकों की घटनाओं को तोड़ना ही चिकित्सा है। संक्षेपतः इसे निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है—

सम्प्राप्ति	चिकित्सा
१. निदान से दोषवृद्धि।	१. निदान-परिवर्जन, दोषों का शोधन/शमन (दोषप्रत्यनीक)।
२. दूष्य दुष्टि/क्षय।	२. दूष्यों को ठीक करना (दूष्यप्रत्यनीक)।
३. दोषदूष्य-सम्मूर्च्छना।	३. दोषदूष्य-सम्मूर्च्छना को तोड़ना (व्याधि-प्रत्यनीक)।
४. स्रोतोदुष्टि।	४. स्रोतस को ठीक करना (स्रोतःशोधन)।
५. रोग का अधिष्ठान।	५. अधिष्ठान को ठीक करना।
६. अग्निमांद्य और आम।	६. दीपन, पाचन।

इस प्रकार रोग की सम्प्राप्ति का ठीक ज्ञान होने पर ही उचित चिकित्सा की जाती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रष्टव्य स्थल

१. यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता ।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः ॥ अ. हृ. नि. १।८

२. सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः । च. नि. १।११

३. सा संख्या-प्राधान्य-विधि-विकल्प-बल-कालविशेषैर्भिद्यते । च. नि. १।१२

४. संख्या तावद्यथा—अष्टौ ज्वराः, पञ्च गुल्माः, सप्त कुष्ठानि, इत्येवमादिः । च. नि. १।१२

५. समवेतानां पुनर्दोषाणामंशांशबलविकल्पो विकल्पोऽस्मिन्नर्थे । च. नि. १।१२

६. प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते । तत्र द्वयोस्तरः, त्रिषु तमः । च. नि. १।१२

७. स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् । अ. हृ. नि. १।११

८. विधिर्नाम द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन, त्रिविधास्त्रिदोषभेदेन, चतुर्विधाः साध्यासाध्यमृदुदारुणभेदेन । च. नि. १।१२

९. बलकालविशेषः पुनर्व्याधीनामृत्वहोरात्राहारकालविधिविनियतो भवति । च. नि. १।१२

१०. सञ्चयञ्च प्रकोपञ्च प्रसरं स्थानसंश्रयम् ।
व्यक्तिं भेदञ्च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक् ॥ सु. सू. २१।३६

११. चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु ।
विपरीतगुणेच्छा च ॥ अ. हृ. सू. १२।२२

१२. सञ्चयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः ।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ॥ सु. सू. २१।३७

१३. तत्र सञ्चितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता, पीतावभासता, मन्दोष्मता चाङ्गानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति । तत्र प्रथमः क्रियाकालः । सु. सू. २१।१८

१४. कोपस्तून्मार्गगामिता । अ. सं. सू. २०।६

१५. तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसञ्चरणाम्लिकापिपासापरिदाहान्नविद्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते । तत्र द्वितीयः क्रियाकालः । सु. सू. २१।२७

१६. एवं प्रकुपितानां प्रसरतां च वायोर्विमार्गगमनाटोपौ, ओषचोषपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य, अरोचकाविपाकाङ्गसादाश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति । तत्र तृतीयः क्रियाकालः । सु. सू. २१।३२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१७. कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।
यत्र सङ्गः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥ सु. सू. २४।१९

१८. स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धाः भाविव्याधिप्रबोधकम् ।
दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते ॥ च. नि. १

१९. प्रादूर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम् । तत्र लिङ्गमाकृतिर्लक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यनर्थान्तरम् । च. नि. १।१०

२०. पूर्वरूपं प्रागुत्पतिलक्षणं व्याधेः । च. नि. १।८

२१. अत ऊर्ध्वं व्याधेर्दर्शनं वक्ष्यामः—शोफार्बुदग्रन्थिविद्रधिविसर्पप्रभृतीनां प्रव्यक्तलक्षणता, ज्वरातिसारप्रभृतीनां च । तत्र पञ्चमः क्रियाकालः ।
सु. सू. २१।३४

२२. अत ऊर्ध्वमेतेषामवदीर्णानां व्रणभावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः । ज्वरातिसारप्रभृतीनां च दीर्घकालानुबन्धः । तत्राप्रतिक्रियमाणेऽसाध्यतामुपयान्ति । सू. सू. २१।३५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत्

औषध, अन्न और विहार का परिणाम में सुखकारक (रोगनिवृत्ति करने वाला) जो उपयोग हो उसको उपशय कहते हैं। इसी को सात्म्य भी कहते हैं। उपशय के ठीक विपरीत अनुपशय है। जब किसी रोग का निश्चय नहीं किया जा सकता हो, अर्थात् जब प्राप्त लक्षणों के आधार पर विभेदक निदान करने और रोग-विनिश्चय करने में कठिनाई हो रही हो, तब उपशय और अनुपशय के द्वारा रोग-निश्चय करने का उपदेश शास्त्रों में किया गया है। जिस रोग की शंका अधिक हो उसकी चिकित्सा (उपशय) करने पर लाभ हो जाय तो पश्चात् उस रोग का निदान पक्का करते हैं। यदि उस रोग के निदानों के सेवन से उस रोग के लक्षण बढ़ जायँ तो इसे अनुपशय द्वारा रोग-विनिश्चय कहेंगे। परन्तु उपशय को अधिक महत्त्व देना चाहिए क्योंकि उससे रोगशान्ति की सम्भावना तो रहती है और यदि रोगशान्ति न भी हो तो रोगवृद्धि तो नहीं ही होगी। इसीलिए उपशय ही अधिक व्यावहारिक है। रोग-विनिश्चयार्थं किये जाने वाले उपयोग को उपशय और रोग-विनिश्चय के बाद किये जाने वाले उपायों को चिकित्सा कहते हैं। उपशय का क्षेत्र सीमित है, जब कि चिकित्सा का क्षेत्र विस्तृत है। इसी प्रकार प्रज्ञापराध से किया गया मिथ्या आहार-विहार निदान कहलाता है, जब कि रोग-विनिश्चयार्थ प्रयुक्त कराया गया मिथ्या आहार-विहार अनुपशय कहलाता है। अनुपशय का क्षेत्र सीमित है, जब कि निदान का क्षेत्र विस्तृत है। पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्रोक्त therapeutic tests उपशयात्मक ही हैं, अनुपशयात्मक नहीं। उपशय के १८ भेद बताये गये हैं और ये वस्तुतः १८ प्रकार से चिकित्सा कर सकने के सूचक हैं। इनमें आयुर्वेदीय चिकित्सा की व्यापकता निहित है।

उपशय के १८ भेद

१. हेतुविपरीत औषध	२. हेतुविपरीत अन्न
३. हेतुविपरीत विहार	४. व्याधिविपरीत औषध
५. व्याधिविपरीत अन्न	६. व्याधिविपरीत विहार
७. हेतु-व्याधिविपरीत औषध	८. हेतु-व्याधिविपरीत अन्न
९. हेतु-व्याधिविपरीत विहार	१०. हेतु-विपरीतार्थकारी औषध
११. हेतु-विपरीतार्थकारी अन्न	१२. हेतु-विपरीतार्थकारी विहार
१३. व्याधि-विपरीतार्थकारि औषध	१४. व्याधि-विपरीतार्थकारि अन्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१५. व्याधि-विपरीतार्थकारि विहार १६. हेतु-व्याधिविपरीतार्थकारि औषध

१७. हेतु-व्याधिविपरीतार्थकारि अन्न १८. हेतु-व्याधिविपरीतार्थकारि विहार

चरक ने इसे इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहार-विहाराणा मुपयोगः सुखानुबन्धः" (च. नि. १।१०) "गूढलिङ्गव्याधिमुप-शयानुपशयाभ्यां परीक्षेत्" (च. नि. ४) से उपशयानुपशय का क्षेत्र भी स्पष्ट कर दिया गया है। उपरोक्त १८ भेदों को सोदाहरण प्रस्तुत करने के लिए नीचे तालिका दी जा रही है—

उपयोग	औषध	अन्न	विहार
१. हेतुविपरीत	शीत कफ ज्वर में सोंठ उष्ण औषध	श्रम तथा वातज ज्वर में मांस रस	दिवास्वप्न से उत्पन्न कफ में रात्रि-जागरण
२. व्याधिविपरीत	अतिसार पाठा, कुष्ठ में खदिर, प्रेमह में हरिद्रा	अतिसार में स्तम्भन के लिए मसूर	उदावर्त में प्रवाहण
३. हेतु-व्याधि-विपरीत	वातिक शोथ में वातहर तथा शोथ-हर दशमूल	वात-कफजन्य ग्रहणी में तक्र, पित्तज में दुग्ध, शीतजन्य वातज ज्वर में पेय	स्निग्ध पदार्थों के सेवन और दिवास्वप्न से उत्पन्न तन्द्रा में रूक्ष रात्रि-जागरण
४. हेतु-विपरीता-र्थकारी	पित्त-प्रधान फोड़े पर उष्ण उपनाह का प्रयोग	पैत्तिक पिड़िका में विदाही अन्न	वातज उन्माद में रोगी को डराना
५. व्याधि-विपरी-तार्थकारी	छर्दिरोग में वमन-कारक मदनफल का प्रयोग	अतिसार में विरेचनार्थ क्षीर का प्रयोग	छर्दि में वमन कराने हेतु प्रवाहण
६. हेतु-व्याधि-विपरीतार्थकारी	अग्नि से जल जाने पर अगुरु (उष्ण) का लेप, विषजन्य रोग में विष	मदात्यय में मद्य-सेवन	ऊरुस्तम्भ में जल में तैरने का व्यायाम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन प्रचलित उदाहरणों के अतिरिक्त निम्नलिखित और उदाहरण शास्त्रों में से एकत्रित किये गये हैं—

१. वार्तिक ज्वर में उष्णाभिप्रियता उपशय है। च. नि. १।२१

२. पैत्तिक ज्वर में शीत पदार्थ उपशय है। च. नि. १।२४

३. कफज ज्वर में उष्ण पदार्थ उपशय हैं। च. नि. १।२७

४. 'ज्वरघ्नाः ज्वर सात्म्यत्वात् (यवागू) उपशय है। च. नि. ३।१५३

५. रक्तपित्त में कबूतर, लावा, बटेर, शश आदि का मांस हितकर (उपशय) है। च. चि. ४।४०

६. रक्तपित्त में 'शीतकामित्व' एक लक्षण है। अतः शीत पदार्थ उसमें उपशय है। सु. उ. ४५।८

७. वातज गुल्म में गुल्म के निदानों को अनुपशय और शेष उपशय बताये गये हैं। च. नि. ३।७

८. वातज गुल्म में रूक्ष, कषाय, तिक्त तथा कटु को अनुपशय बताया गया है। च. नि. ३।११

९. पैत्तिक गुल्म में निदान असात्म्य और निदान के विपरीत सात्म्य बताया गया है। च. नि. ३।९

१०. प्रमेह के पूर्वरूपों में 'शीतप्रियत्वम्' मिलता है (उपशय)। च. चि. ६।१३

११. प्रमेह के कारणों का सेवन न करने को कहा गया है (अनुपशय)। च. चि. ६।१२

१२. अपस्मार में वातवर्धक आहार-विहार असात्म्य (अनुपशय) और उससे विपरीत सात्म्य (उपशय) बताया गया है। च. चि. ८।८

१३. वातज अर्श में स्निग्ध और उष्ण उपचार उपशय है।

१४. पित्तज अर्श में शीतोपचार उपशय है।

१५. कफज अर्श में उष्णोपचार उपशय है।

१६. पित्तज पाण्डु में शीतोपचार उपशय है। अ. हृ. नि. १३।११

१७. तमक श्वास में बैठने पर आराम और उष्णाभिप्रीति उपशय है। च. चि. १८।१३

१८. वार्तिक शूल में स्वेदन, अभ्यंग, मर्दन, स्निग्ध तथा उष्ण पदार्थ उपशय हैं। माधव

१९. वातज कास में स्निग्ध, अम्ल, लवण एवं उष्ण अन्नपान उपशय हैं। च. चि. १८।१३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२०. विसर्प में निदान को अनुपशय और शेष उपशय बताये गये हैं। च. चि. २१।३४

२१. हृद्रोग में शब्दासहिष्णुता बताया गया है। अधिक शब्द अनुपशय है। अ. हृ. नि. ५।४०

२२. उरुस्तम्भ में स्नेहन अनुपशय और जल-प्रतरण उपशय है। वमन विरेचनादि अनुपशय हैं। माधवनि० तथा च० चि० २७।१६

२३. वातरक्त में शीत या शीतप्रदेश अनुपशय है। च. चि. २९।२५

२४. उदावर्त में प्रवाहण व्याधि-विपरीत उपशय है। माधवनि०

२५. उदावर्त में घृतपान उपशय है। सु. सू. ३५

२६. शोथ में विभिन्न प्रकार के आहार-विहार अनुपशय हैं, यथा—नवान्न, शुष्क मांस, दधि, दिवास्वप्न, मैथुन आदि। च. चि. १२।२०

२७. वातिक शोथ में स्निग्ध एवं उष्ण तथा मर्दन उपशय है। च. सू. १८।१०

२८. पित्तज शोथ में शीत उपशय और स्पर्श अनुपशय है। अ. हृ. नि. १३।३४

रोग-विनिश्चयार्थ उपशय का विशेष प्रयोग है और अनुपशय का बहुत कम। एक रोग के उपशय दूसरे रोग के अनुपशय भी हो सकते हैं। पूर्वोक्त आधारों का सहारा लेकर अन्य उपशयानुपशय भी निश्चित किये जा सकते हैं। पूर्वोक्त उपशयानुपशय विशेषतः आहार-विहारपरक हैं। औषध-प्रयोग से भी उपशयानुपशय सिद्ध करते हैं। मेरे विभागाध्यक्ष एवं संचालक श्री चन्द्रकान्त शुक्ला द्वारा प्रयुक्त उपशयानुपशय सिद्धान्त का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

आतुरालयों में प्रविष्ट कुछ रुग्ण ऐसा लक्षण-सम्मुच्चय उपस्थित करते हैं जिससे अम्लपित्त और विदग्धाजीर्ण में विभेद करना तथा रोग-विनिश्चय करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में शुण्ठी—१ मा., दिन में तीन बार पानी से दीं जाती है। यदि लक्षणों में लाभ मिले; लक्षण कम होने लगें, तो विदग्धाजीर्ण और यदि लक्षण बढ़ें या यथावत् रहें तो अम्लपित्त समझना चाहिए। इसी प्रकार अन्य प्रयोग भी किये जा सकते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रोगों के नाम और उनके भेदों का निदान-चिकित्सात्मक महत्त्व

त एवापरिसङ्ख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि ।
रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः ॥ च. सू. १८।४२

दोष, दूष्य एवं स्रोतस की संख्या निश्चित होने पर भी विशिष्ट लक्षण, वर्णपरक विकृति, आमाशयोत्थ/पक्वाशयोत्थ होने से, विशिष्ट वेदना, विशिष्ट रोगादि विकार से रोग अपरिसंख्येय हो सकते हैं। शास्त्रों में वर्णित सामान्यज विकारों तथा उनके नामों और भेदों को देखने से ज्ञात होगा कि उनके नाम लक्षण, दूष्य, रोगाकृति तथा रोगाधिष्ठान के महत्त्व को बताते हैं और तत्तत् रोग में तत्तत् महत्वपूर्ण बात का चिकित्सात्मक महत्त्व भी द्योतित करते हैं।

कुछ रोगों के नाम तथा/या भेद निदान के आधार पर रखे गये हैं यथा—

१. साहसज—वेगधारणज—क्षयज—विषमाशनज राजयक्ष्मा ।
२. आमजा तृष्णा—क्षयजा तृष्णा—क्षतजा तृष्णा ।
३. भूत-पिशाच-राक्षस, देव, पितृजुष्ट उन्माद ।
   शोकज-विषज उन्माद ।
४. अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र—शल्याभिघातज मूत्रकृच्छ्र ।
५. उदावर्त के भेद ।
६. क्षतजकास—क्षयजकास ।
७. शोकज अतिसार—भयज अतिसार ।
८. क्षयज स्वरभेद ।
९. दाह के भेद ।
१०. द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि ।
११. मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डु ।
१२. कृमिज छर्दि ।
१३. कृमिज हृद्रोग ।

इन रोगों या रोग-भेदों के नाम से उनको उत्पन्न करने वाले विशिष्ट निदानों का भी ज्ञान हो जाता है। इन रोगों के विनिश्चय में भी इन निदानों का पता लगाने से सहायता मिलती है और चिकित्सा में निदान-परिवर्जन का सर्वाधिक महत्त्व होता है। कुछ रोगों के भेद निदानार्थंकर रोग के आधार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर बताये गये हैं, यथा—क्षतज कास, क्षयज कास, कृमिज छर्दि, कृमिज हृद्रोग, अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र आदि। ऐसी परिस्थितियों में उन रोगों का विनिश्चय करते समय इन निदानार्थंकर रोगों का ध्यान रखना पड़ता है और मुख्य रोग के साथ-साथ इन निदानार्थंकर रोगों की भी चिकित्सा करनी होती है।

कुछ रोगों के नाम या प्रकार-भेद अवयव या अधिष्ठान के नाम पर रखे गये हैं, यथा—

१. हृद्रोग	२. ग्रहणी	३. संधिवात
४. आमाशयगत वात	५. यकृद्दाल्युदर	६. प्लीहोदर
७. गलगण्ड	८. वस्ति-कुण्डल	९. ऊरुस्तम्भ
१०. उरःक्षत	११. उदररोग	१२. अंत्रवृद्धि
१३. सिरागत वात	१४. गृध्रसी	१५. पक्षाघात
१६. योनिकन्द आदि।		

इन सब में रोग-विनिश्चयार्थ तत्तत् अवयवों/स्थानों की परीक्षा करने से ही सर्वाधिक सहायता मिलती है। चिकित्सा में इन स्थानों, स्रोतसों, अवयवों या स्रोतोमूलों की विशिष्ट चिकित्सा करनी पड़ती है। ये रोग उन अवयवों या स्थानों में रचना सम्बन्धी विकृति (Structural damage) भी कर देते हैं और इसीलिए इनको ठीक करना कठिन हो जाता है।

कुछ रोगों के नाम या प्रकार-भेद दूष्य के नाम पर बताये गये हैं, यथा—

१. वातरक्त	२. रक्तपित्त	३. रक्तातिसार
४. रक्तप्रवाहिका	५. रक्तगुल्म	६. रक्तार्श
७. रक्तमेह	८. मेदोरोग	९. अध्यस्थि
१०. मेदोज स्वरभेद	११. रक्तज मूर्च्छा	१२. रक्तज कृमि
१३. पुरीषज कृमि	१४. रक्तज वृद्धि	१५. मेदोज वृद्धि
१६. मूत्रज वृद्धि	१७. रक्तज विद्रधि	१८. रक्तार्बुद
१९. मांसार्बुद	२०. रक्तज मूर्च्छा	

इन सब अवस्थाओं में दूष्य का सभी प्रकार से परीक्षण करने पर रोग-विनिश्चय में सहायता मिलती है। पूर्वोक्त में रक्त की विकृति से उत्पन्न रोग या रोगावस्थाएँ सर्वाधिक हैं। चिकित्सा में रोग की सम्पूर्ण चिकित्सा करते समय इन दूष्यों की शुद्ध्यात्मक, वर्धनात्मक या स्तम्भनात्मक चिकित्सा यथा-रोग की जाती है, तभी विशेष लाभ होता है।

कुछ रोगों की आकृति, आकार, प्रकार आदि से ही रोग-विनिश्चय में बहुत सहायता मिलती है, यथा—कुष्ठ, विसर्प, अर्श, भगन्दर, शोथ. शीत-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पित्त, उदर्द, कोठ, विस्फोटक, मसूरिका, क्षुद्ररोग, व्रण आदि। इन रोगों में दर्शन-परीक्षा का विशेष महत्त्व है। रोग-विनिश्चय किये जाने पर इनमें व्याधिप्रत्यनीक-चिकित्सा ही लाभकारक है।

कुछ रोगों के भेद उनकी गति के आधार पर बताये गये हैं, यथा—कामला (शाखाश्रित–कोठशाखाश्रित), वातरक्त (उत्तान–गम्भीर), रक्तपित्त (ऊर्ध्वग–अधोग), अम्लपित्त (ऊर्ध्वग–अधोग)।

अधिक संख्या में रोगों के नाम प्रत्यात्मलक्षण के आधार पर और उनके भेदों के नाम दोषों के आधार पर या लक्षणों की विशेषता के आधार पर रखे गये हैं, यथा—ज्वर, श्वास, कास, शूल, हिक्का, अतिसार, प्रमेह आदि। श्वास एवं हिक्का के भेद उनके प्रत्यात्मलक्षण के प्रकारों पर रखे गये हैं, यथा—महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास आदि तथा महती हिक्का, गभीरा हिक्का आदि। इन रोगों का विनिश्चय सभी रोगों की तरह प्रत्यात्मलक्षण तथा लक्षण-समुच्चय के आधार पर किया जाता है। इनकी उभय-प्रत्यनीक-चिकित्सा की जाती है।

निदान-पंचक से रोगविनिश्चय (Diagnosis) में सहायता

परीक्षा दो तरह से की जाती है—रोग-परीक्षा और रोगी-परीक्षा। यद्यपि रोग रोगी में होता है; रोग के बिना रोगी नहीं और रोगी के बिना रोग नहीं होता; और रोग और रोगी की परीक्षा से रोग-विनिश्चय—यही एक कार्य किया जाता है। अतः इन दोनों में पार्थक्य अभीष्ट नहीं हो सकता; तथापि सरलता के लिए ये दो प्रकार की परीक्षाएँ बतायी गयी हैं। रोग-परीक्षा निदान-पूर्वरूप-रूप-उपशय-सम्प्राप्ति से की जाती है और रोगी-परीक्षा निम्न प्रकारों से की जाती है—

१. दर्शन-स्पर्शन-प्रश्न से (३ प्रकार),
२. पंच ज्ञानेन्द्रियों से (५ प्रकार),
३. पंच ज्ञानेन्द्रियों एवं प्रश्न से (६ प्रकार),
४. नाड़ी-मूत्र-मल-जिह्वा-शब्द-स्पर्श-दृक्-आकृति (८ प्रकार),
५. प्रकृतितः-विकृतितः-सारतः-संहननतः-प्रमाणतः-सात्म्यतः-सत्त्वतः-देशतः आहारशक्तितः-व्यायामशक्तितः-वयतः-कालतः (१२ प्रकार)

आतुरवेद्य तथा चिकित्सकवेद्य लक्षणों को तथा पूर्वोक्त विभिन्न प्रकार की रोगी-परीक्षाओं को 'प्रत्यक्ष' के अन्तर्गत लेते हैं। इन सबसे जो निष्कर्ष निकलते हैं उनसे 'अमुक रोग है' ऐसा निश्चय (अनुमान) करते हैं। अनुमान के लिए पूर्वज्ञान या आधार चाहिए, अतः शास्त्रों में प्राप्त वर्णन (आप्तोपदेश)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आधार बनता है। इस प्रकार रोग-विनिश्चय प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश के आधार पर किया जाता है। प्रत्यक्ष को आप्तोपदेश से जोड़ने की कड़ी 'अनुमान' है और यदि यह ठीक न किया जा सकता हो या इससे कई सम्भावनाओं का संकेत होता हो तो विभेदक निदान (या व्यवच्छेदक निदान) किया जाता है। लक्षणों की समानता से व्यवच्छेदक निदान की आवश्यकता होती है और कुछ विशिष्ट प्रत्यात्मलक्षणों या परीक्षणोपलब्ध सूचनाओं से रोग-विनिश्चय किया जाता है। यदि कुछ भी विशिष्ट या व्यवच्छेदक लक्षण न मिलें तो उपशयानुपशय से रोगविनिश्चय किया जाता है। यदि किसी भी एक सामान्यज रोग का कुछ भी आधार न मिलता हो तो 'विकारनामाकुशलो न जिह्लीयात् कदाचन। न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥' इस चरकीय वाक्य का सहारा लेकर चिकित्सा दोषानुसार की जाती है।

रोग-विनिश्चय में निदानपंचक का बहुत महत्त्व है। मात्र एक लक्षण से रोग-विनिश्चय सम्भव नहीं। एक ही लक्षण कई रोगों में पूर्वरूप, लक्षण या उपद्रव के रूप में मिल सकता है, यथा—

१. पाण्डुत्व	...	४०	रोगावस्थाओं	में।
२. शीत या शैत्य	...	५६	,,	,,
३. गौरव	...	९६	,,	,,
४. साद	...	५७	,,	,,
५. तन्द्रा	...	४०	,,	,,
६. निद्रा	...	३३	,,	,,
७. आलस्य	...	२२	,,	,,
८. मूर्च्छा	...	७६	,,	,,
९. श्वास	...	८०	,,	,,
१०. कास	...	७६	,,	,,
११. प्रसेक	...	४२	,,	,,
१२. हृल्लास	...	२६	,,	,,
१३. कण्डू	...	९२	,,	,,
१४. सुप्ति	...	३२	,,	,,
१५. अरुचि	...	१२६	,,	,,
१६. अविपाक	...	३२	,,	,,
१७. शोथ	...	१८४	,,	,,
१८. स्तम्भ	...	७०	,,	,,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१९. रौक्ष्य	...	२३	रोगावस्थाओं में	
२०. तृष्णा	...	१२३	,,	,,
२१. दौर्बल्य	...	४०	,,	,,
२२. भ्रम	...	७१	,,	,,
२३. अंगमर्द	...	३६	,,	,,
२४. तोद	...	६०	,,	,,
२५. दाह	...	१६५	,,	,,
२६. अतिसार	मुख्यत:	२०	,,	,,
२७. हिक्का	मुख्यत:	१४	,,	,,

ऊपर दिये गये कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी एक लक्षण के आधार पर रोग-विनिश्चय सम्भव नहीं। अत: रोग के प्रत्यात्मलक्षण को लेकर एक लक्षण-समुच्चय बनाना और उसके आधार पर रोग-विनिश्चय करना सर्वत्र स्वीकृत परम्परा है। साथ ही विशिष्ट निदान का भी इसमें महत्त्व है। निदानपंचक की व्यावहारिक उपयोगिता रोगविनिश्चय करने में है। इसे कुछ उदाहरणों से प्रस्तुत करेंगे और जो लक्षणादि रोगी में प्रत्यक्षत: बहुत प्रातिशातिक में मिलते हैं और जिन निदानों को रोगी बता सकता है, उन्हीं पर विशेष जोर देंगे।

तमक श्वास

निदान — धूल, धुआँ या कम हवा वाले स्थान में रहना या काम करना।

पूर्वरूप — किंचित् श्वासकष्ट, शंखनिस्तोद।
शीतऋतु में श्वासकष्ट का वृत्त।

रूप — श्वासकष्ट का वेग के रूप में आना।
घुर्घुर शब्द युक्त श्वास (कपोत कूजनवत)।
कफ निकलने पर कुछ आराम।
गले की तथा उरस की मांसपेशियाँ खिचो हुई।
श्रवण-परीक्षा से फुप्फुसों में शुष्क, आर्द्र एवं कपोत कूजनवत ध्वनि चिरकारित्व।

उपशय — बैठकर कुछ आराम।
सोने या लेटने पर श्वासकष्ट बढ़ जाता है।
उष्णाभिप्रीति।

अनुपशय—शीतल जल, शीत हवा।
गुरु भोजन, व्यायाम।

सम्प्राप्ति — दोष-वात-कफप्रधान।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूष्य—रस ।
स्रोतस—प्राणवहस्रोतस ।
स्रोतोदुष्टि लक्षण—संग—वायु का विष्वक व्रजन ।
आमाशयोत्थ व्याधि है ।
चिरकारी व्याधि है ।
अग्निमांद्य—आम ।

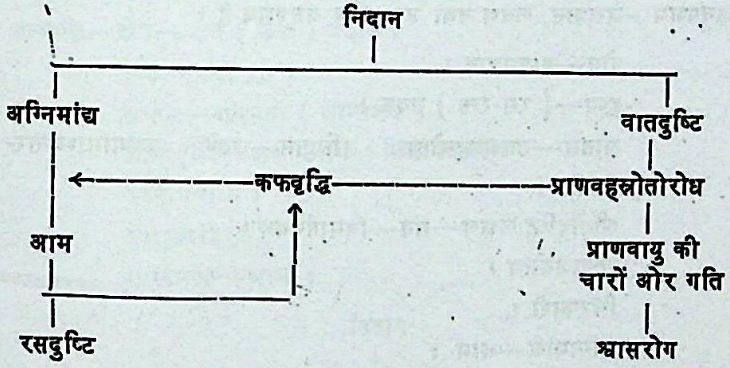

जलोदर

निदान—स्वतन्त्र जलोदर प्राय: नहीं मिलता । अत: उसके निदान 'पंच-कर्मों के बाद सहसा शीतल जलपान' का व्यावहारिक महत्व कम हो गया है। स्वतन्त्र निदान न किए जाने से ही स्वतन्त्र जलोदर नहीं मिलता । फिर भी यदि ये निदान मिलें तो ध्यान में रखने चाहिए ।

परतन्त्र जलोदर के निदानों में निदानार्थकर रोग सम्मिलित हैं, उनमें भी विशेषत: प्राणवायु की दुष्टि (हृद्रोग), अग्नि की दुष्टि (यकृत् के रोग या यकृद्दाल्युदर) तथा अपानवायु की दुष्टि (वृक्कों का शोथ) अधिक महत्व रखते हैं। (प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य जनयन्ति उदरं नृणाम्) ।

पूर्वरूप—इसमें आध्मान, अङ्गसाद, अरुचि तथा अजातोदकावस्था एवं पिच्छोत्पत्ति के लक्षण सम्मिलित हैं। उदर-गौरव तथा उदर में सिराजाल का स्पष्ट दीखना महत्वपूर्ण है ।

रूप—परिवृत्त नाभि ।
आकोटन से उदर में दृतिवत् कम्प, शब्द एवं क्षोभ ।
मूत्राल्पता ।
अरुचि ।
उदरोत्सेध ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यकृत्, हृदय और वृक्कों की विकृतियाँ, जिन्हें कई प्रकार के परीक्षणों से निश्चित् किया जाता है।

उपशय—उदर के त्वङ्मांसान्तर्गत उदक को निकालने पर कुछ दिनों के लिए आराम रहता है। पानी बहुत कम पीना तथा मूत्रल या रेचक औषधियों से उदक को वाहर निकाल देने पर उदरोत्सेध कम होने लगता है और रोगी को आराम मिलता है। ये सब उपशय हैं।

अनुपशय—जलपान, लवण तथा उदरक्षोभ अनुपशय हैं।

दोष—वातप्रधान।

दूष्य—(रस-रक्त) उदक।

स्रोतस—उदकवहस्रोतस, अधिष्ठान—उदरे त्वङ्मांसाभ्यन्तर-स्थितिः।

स्रोतोदुष्टि लक्षण—संग—विमार्गगमन।

पक्वाशयोत्थ।

चिरकारी।

अग्निमांद्य—आम।

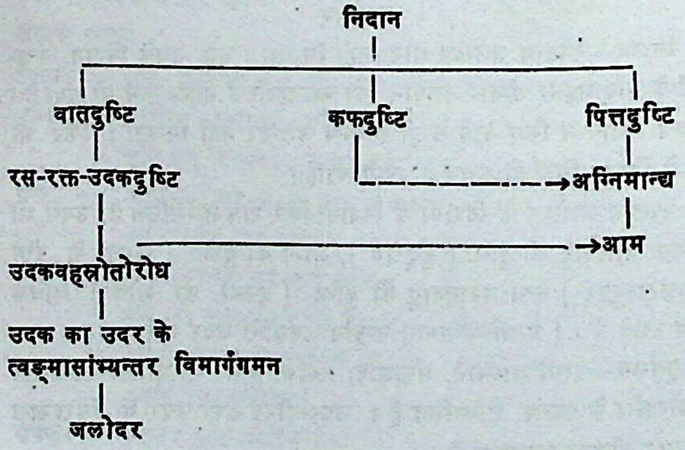

छर्दि

निदान—अजीर्ण, अत्यन्त गुरु एवं विदाही आहार।

तीक्ष्ण औषध, कृमि का इतिहास।

द्विष्टार्थ संयोग।

पूर्वरूप—हृल्लास, कफ प्रसेक, उद्गार।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रूप—आमाशय से अन्न, पित्त, कफ, उदक का मिश्रितरूप में मुख द्वारा
वेग के साथ बाहर निकलना।
हृत् पार्श्व पीडा।
अरुचि।
शिरःशूल।

उपशय—नीम्बू, लवंग, कालीमिर्च को चूसना।

अनुपशय—छर्दि के सभी निदान अनुपशय हैं।

सम्प्राप्ति—दोष—वात (कफ) प्रधान।
दूष्य—अन्न, रस।
स्रोतस—अन्नवह, (आमाशय)।
स्रोतोदुष्टि लक्षण—संग—विमार्गगमन।
आमाशयोत्थ।
आशुकारी।
अग्निमांद्य—आम।

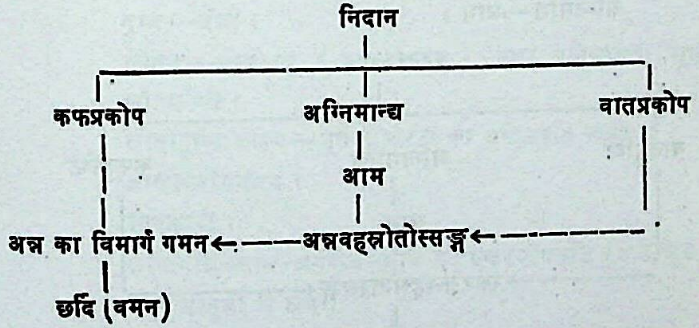

शोथरोग

निदान—मर्मोपघात (हृदय, यकृत् एवं वृक्कों की विकृति)।
धातुक्षय (यक्ष्मा, पाण्डु, ग्रहणी, अनशन, आहार सम्पदाभाव से या विषम प्रसूति, अर्श से रक्तक्षय)।
आगन्तुक कारणों में आघात, विष, कीट।

पूर्वरूप—शोथयुक्तभाग में गुरुता एवं स्तब्धता।
शोथयुक्तभाग में किंचित् उत्सेध दीखना।

रूप—शरीर के किसी भाग पर शोथ (मुख-पाद-सर्वशरीर) मूत्राल्पता।
शोथयुक्तभाग को दबाने पर क्षणिक गर्त पड़ना।
अग्निमांद्य, अरुचि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(शोथ के निदानार्थंकर रोगों की उपस्थिति में प्रत्यात्म लक्षणों को भी ध्यान में लेना चाहिए)।

उपशय—पूर्वविश्राम, मूत्रल औषधोपचार।
वातिक शोथ में स्निग्ध, उष्ण तथा मर्दन उपशय।
पित्तज शोथ में शीत उपशय है।

अनुपशय—दधि, अम्ल, लवण, उदक का अतिपान, मैथुन।
शोथरोग के निदानों में गिनाये गए आहार-विहार।
पित्तज शोथ में स्पर्श अनुपशय है।

सम्प्राप्ति—दोष—वातप्रधान
दूष्य—रस—रक्त
स्रोतस—रस—रक्तवह (सिरा)
स्रोतोदुष्टि—संग—विमार्गगमन
आमपक्वाशयोत्थ
चिरकारी (आगन्तुक शोथ आशुकारी)
अग्निमांद्य—आम।

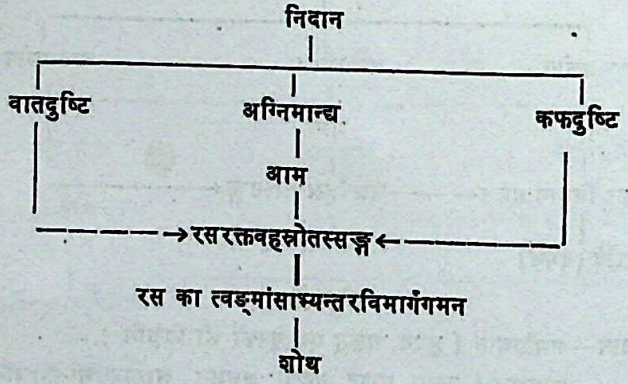

मधुमेह

निदान—आस्यासुख, स्वप्नसुख, स्थौल्य; परिवार में किसी को यह व्याधि होना। मीठा अधिक खाना।

पूर्वरूप—हस्तपादतल दाह, पिपासा, तन्द्रा, साद और आलस्य।

रूप—प्रभूत मूत्रता, मूत्रत्याग बार-बार होता है और मूत्र की २४ घण्टे की राशि भी अधिक होती है।

आविल मूत्रता—मूत्र गंदला होता है, बर्तन में कुछ देर रखने पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गँदलापन एकत्र स्पष्ट भी दीख सकता है।

तृष्णाधिक्य ।

बुभुक्षाधिक्य ।

मूत्र में मधुरांशों (ओज) का निकलना जिस की निश्चिति मूत्र-परीक्षा से की जाती है। ओज शरीरस्थ भाव है और जब वह वायु द्वारा प्रेरित होकर रस-रक्तवह स्रोतस से मूत्रवह स्रोतस तथा वृक्कों में जाता है तब रक्त में उसकी मात्रा अधिक हो जाती है। रक्त समस्त शरीर में व्याप्त है; अतएव वाग्भट ने मधुमेह के वर्णन में 'माधुर्याच्च तनोरतः' कहा है। इसलिए रक्त-परीक्षण से ओज (या शर्करा या मधुरांश) की रक्तगतराशि का परीक्षण द्वारा ज्ञान करना ही चाहिए। मधुमेह में रक्तगत शर्करावृद्धि मिलती है। यह एकदेशीयवृद्धि है।

उपशय—शीत प्रियत्वम् । (च. नि. ६/१३)।

अनुपशय—प्रमेह के निदान ही अनुपशय बताये गए हैं (च. नि. ६/१३)।

सम्प्राप्ति—दोष—वातप्रधान ।

दूष्य—ओज ।

स्रोतस—ओजोवह (रस–रक्तवह) तथा परिणामतः मूत्रवह स्रोतस भी ।

स्रोतोदुष्टि लक्षण—मूत्रवहस्रोतस का अतिप्रवृत्ति लक्षण ।

आमपक्वाशयोत्थ ।

चिरकारी ।

अग्निमांद्य–आम–अवरोध–ओज की एकदेशीयवृद्धि (रक्त, मूत्र में) और धातुओं में क्षय ।

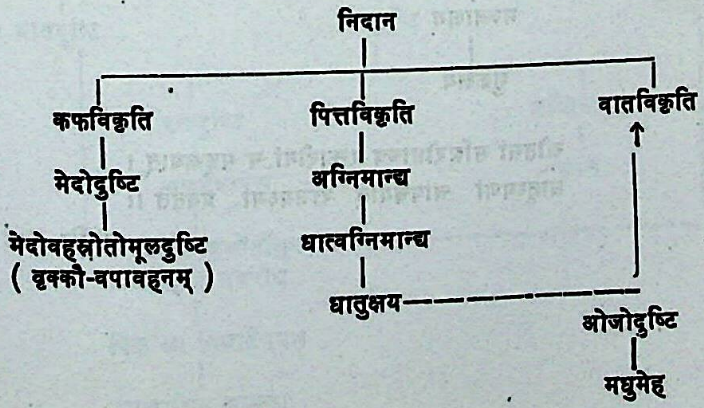

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजयक्ष्मा

निदान

- अनुलोमक्षय निदान (विषमाशन, वेगधारण)
  - कफवातप्रकोप
    - अग्निमान्द्य
      - धात्वग्निमान्द्य
      - आम
        - रसवहस्रोतोरोध
          - रसक्षय
            - रक्तक्षय
              - मांसक्षय
                - मेदःक्षय
                  - अस्थिक्षय
                    - मज्जाक्षय
                      - शुक्रक्षय
- प्रतिलोमक्षय निदान (साहसजनितक्षय)
  - वातप्रकोप
    - शुक्रक्षय
      - मज्जाक्षय
        - अस्थिक्षय
          - मेदःक्षय
            - मांसक्षय
              - रक्तक्षय
                - रसक्षय

स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च सङ्क्षयात् ।
धातूष्मणां चापचयात् राजयक्ष्मा प्रवर्तते ।।

—च. चि. ८।४०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विसूचिका

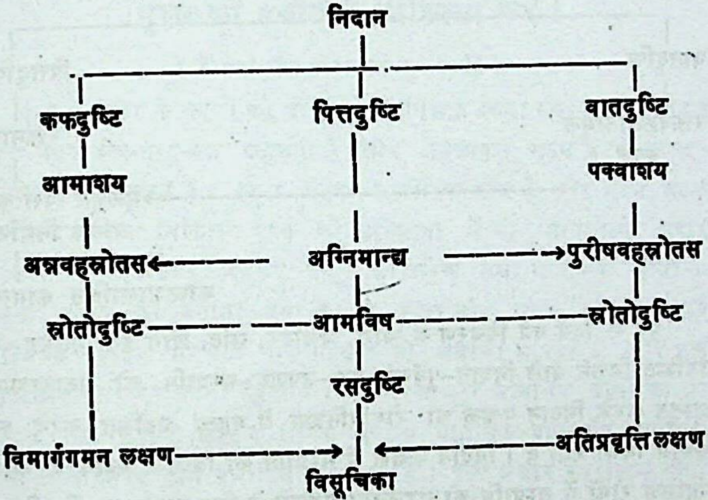

कामला

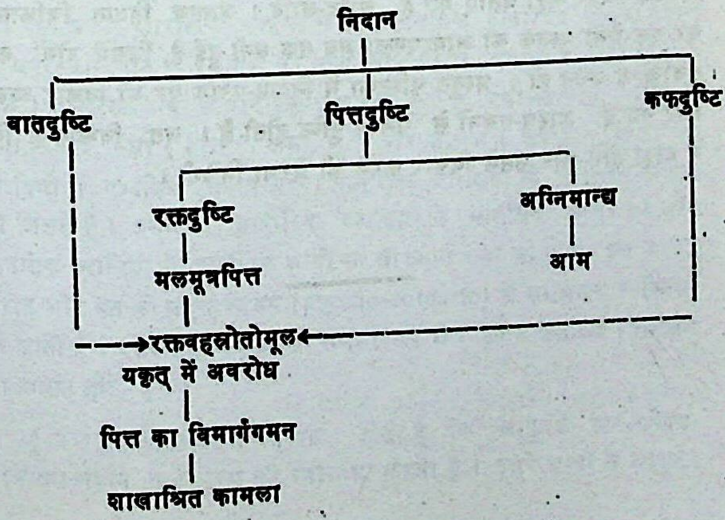

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निदान
(विशेषतः निदानार्थकररोग)

वातदुष्टि
रक्तवहस्रोतोमूल यकृत

पित्तदुष्टि
रक्तनाश

→ मूलभूत पित्त का अधिक निर्माण

कोष्ठशाखाश्रित कामला

पूर्व में दिये गये विवरण में श्वास, जलोदर, छर्दि, शोथ तथा मधुमेह में निश्चित मिलने वाले निदान–पूर्वरूप–रूप–उपशय–सम्प्राप्ति को उदाहरणार्थ प्रस्तुत करके निदान पञ्चक का रोगविनिश्चय में महत्व प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। निदान पञ्चक में सम्प्राप्ति का विशिष्ट महत्व है और विभिन्न रोगों में सम्प्राप्ति को सरलतया समझने के लिए राजयक्ष्मा, विसूचिका तथा कामला की सम्प्राप्तियों को रेखाचित्रों द्वारा स्पष्ट किया गया है। ये उदाहरण हैं, साथ ही रेखाचित्रों में मात्र संकेत हैं, व्याख्यायें नहीं हैं। सभी रोगों का इसी पद्धति से अध्ययन किया जाना ठीक लगता है। शास्त्रों में कुछ रोगों के पूर्वरूप वर्णित नहीं हैं, कुछ के सामान्य लक्षण वर्णित नहीं हैं। कुछ में सामान्य सम्प्राप्ति का वर्णन नहीं मिलता, कुछ में आवश्यकता होने पर भी विभेदक लक्षण नहीं बताए गए हैं, आदि-आदि। अतएव निदान चिकित्सा पर एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता अब तक बनी हुई है, जिसमें रोगों का सर्वाङ्गीण वर्णन हो। प्रस्तुत पुस्तिका में निदान-पञ्चक पर जो विचार व्यक्त किए गए हैं, शास्त्र-वचनों से उनकी पुष्टि होती है। अतः विश्वास है कि वे ग्राह्य होंगे और उनसे विचार करने की प्रेरणा मिलेगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुरुष की सर्वांगीण चिकित्सा करें !

(Treat the man as a whole)

(१) शरीर के घटकों को दो भागों में विभक्त किया गया है। अपेक्षाकृत स्थूल घटक दोष-धातु-मल कहलाते हैं और अपेक्षाकृत सूक्ष्म घटक आत्मा-इन्द्रिय-मन कहलाते हैं। स्थूल घटक शारीरिक भाव हैं और सूक्ष्म घटक मानसिक भाव। चिकित्स्य पुरुष की परिभाषा में भी 'सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्' कहकर इन्हीं शारीरिक तथा मानसिक भावों के संयुक्त स्वरूप को बताया गया है। ये स्थूल और सूक्ष्म घटक एक ही शरीर में परस्पर सान्निध्य एवं सहयोग की अवस्था में रहते हैं और एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता रहता है। शारीरिक और मानसिक दोषों का भी सम्बन्ध बना रहता है और शारीरिक दोषों से मानसिक दोष और मानसिक दोषों से शारीरिक दोष प्रभावित होते रहते हैं। इसी प्रकार शारीरिक दोषों को प्रकुपित करने वाले मूल कारण का मानसिक दोषों पर भी प्रभाव पड़ता है और मानसिक दोषों को प्रकुपित करने वाले मूल कारण का शारीरिक दोषों पर भी प्रभाव पड़ता है। चिन्ता, भय एवं शोक मानसिक कारण हैं; परन्तु उनसे शारीरिक वातदोष की भी वृद्धि होती है। क्रोध भी एक मानसिक भाव है जिसका शारीरिक पित्त-दोष पर प्रभाव पड़ता है। निष्क्रियता, अकर्मण्यता एवं आलस्य मानसिक कारण हैं, जिनसे शारीरिक कफ-दोष की वृद्धि होती है। इसी प्रकार शारीरिक कारणों से भी मानसिक दोषों पर प्रभाव पड़ता है; यथा—मद्यपान से रजोगुण की वृद्धि और गरिष्ठ आहार से तमोगुण की वृद्धि। शारीरिक दोषों के मानसिक लक्षण भी होते हैं, यथा—उत्साह (वात), प्रभा, प्रसाद, मेधा (पित्त), क्षमा, धृति और अलोभ (कफ)। शारीरिक व्याधियों में मानसिक लक्षण और मानसिक व्याधियों में शारीरिक लक्षण भी मिलते हैं। इसीलिए शारीरिक व्याधियों में मानसिक भावों का और मानसिक व्याधियों में शारीरिक भावों का भी ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार शरीर और मन को संयुक्त स्वरूप (psycho-somatic) में समझकर चिकित्सा की जाती है। एतदर्थ ही मनुष्य को समस्त रूप में (as a whole) समझने का आग्रह होता है।

(२) पूर्वोक्त तथ्यों से यह प्रकट होता है कि आयुर्वेद 'शरीरेन्द्रिय-सत्त्वात्मा-संयोग' वाले पुरुष की चिकित्सा करता है। दूसरे शब्दों में आयुर्वेद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रोगी की चिकित्सा करता है; जब कि अन्य चिकित्सा प्रणालियाँ मात्र रोग की चिकित्सा करती हैं। रोगी की चिकित्सा से रोग की भी चिकित्सा हो जाती है; परन्तु मात्र रोग की चिकित्सा करने से कदाचित् रोगी की चिकित्सा न भी हो। 'रोगी की चिकित्सा करो रोग की नहीं' यह बात ठीक वैसी ही लगती है जैसे 'पाप से घृणा करो पापी से नहीं' अथवा 'अपराध से घृणा करो अपराधी से नहीं'। साधारण व्यक्ति के मस्तिष्क में पाप के बिना पापी का चित्र नहीं उभरता, अपराध के बिना अपराधी की कल्पना नहीं हो पाती, रोग के बिना रोगी का चित्र नहीं उभरता, रोगी के बिना रोग की परिकल्पना नहीं हो पाती। परन्तु चिकित्सा-शास्त्रज्ञ इस बात को जानते हैं कि रोग के पूर्व और पश्चात् भी व्यक्ति तो रहता ही है और वह व्यक्ति स्वास्थ्य के लक्षणों से युक्त रहता है। अतः आयुर्वेद मात्र रोगमुक्ति या रोग-निवारण को ही चिकित्सा की इति नहीं मानता। वह रोगमुक्ति के साथ-साथ पूर्ण स्वास्थ्य लाभ को भी चिकित्सा का अनिवार्य अंग मानता है। इसीलिए आयुर्वेद ने स्वास्थ्य की भावात्मक (positive) परिभाषा दी है जब कि इतर चिकित्सा-प्रणालियों ने स्वास्थ्य की अभावात्मक (negative) परिभाषा दी है। किसी व्याधि का परिलक्षित न होना ही स्वस्थावस्था नहीं है, अपितु दोष-धातु-मलों की द्रव्यतः-गुणतः-कर्मतः साम्यावस्था तथा आत्मा, इन्द्रिय एवं मन की प्रसन्नावस्था ही स्वास्थ्य है। यह एक भावात्मक परिभाषा है। 'रोग नहीं है'—अतः व्यक्ति स्वस्थ है ऐसी बात नहीं है। स्वास्थ्य के कुछ मापदण्ड हैं, कुछ लक्षण हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति स्वस्थ है। हाल ही में आयुर्वेद के इस समग्रतामूलक दृष्टिकोण को स्वीकारते हुए विश्व-स्वास्थ्य-संस्थान (W. H. O.) ने भी स्वास्थ्य की भावात्मक परिभाषा स्वीकार की है। 'स्वे स्थितः स्वस्थः' यह व्युत्पत्ति मानसिक भावों की स्वस्थात्मक इयत्ता, सत्ता एवं प्राथमिकता की द्योतक है। अतः मात्र रोग की चिकित्सा की अपेक्षा रोगी की चिकित्सा को अधिक महत्व दिया गया है। पंथ्य एवं संसर्जन क्रम इसी महत्व को प्रतिपादित करते हैं। 'पुरुष की सर्वांगीण चिकित्सा करो' का ही प्रायोगिक रूप है—रोगी की चिकित्सा करो (Treat the paticnt)।

(३) जब हम यह कहते हैं कि हम रोगी की चिकित्सा करते हैं, तब हम इस ओर इंगित करते हैं कि रोग तब तक नहीं हो सकता है जब तक व्यक्ति का बल प्राकृत रहे। व्याध्युत्पत्ति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का व्याधिक्षमत्व बल तथा व्याधिबल विरोधिकत्व बल क्षीण हो जायें जिसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिणामस्वरूप रोगोत्पादक निदान रोगोत्पत्ति करने में सफल हो सकें। जब तक बल ठीक रहेगा रोग नहीं होगा। अतएव हम बल (Resistance power) को महत्व देते हैं और चिकित्सा से उस बल को बढ़ाकर रोगी को रोगमुक्त भी करते हैं और स्वस्थ भी बनाते हैं। 'हम रोगी की चिकित्सा करते हैं' इसी का व्यावहारिक रूप है कि 'हम रोगी के बल को बढ़ाते हैं' (Increas and restore the resistance power of the patient)। इस संदर्भ में स्मरणीय है कि खवैगुण्य के स्थल पर ही दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना पूर्वक रोगोत्पत्ति होती है। निदान के एक अंश विशेष से खवैगुण्य उत्पन्न होता है। जब तक खवैगुण्य ठीक नहीं होगा तब तक रोगमुक्ति तो हो सकेगी परन्तु व्याध्युन्मुखता (Susceptibility) तथा उपद्रव एवं पुनरावर्तन (Complication & relapse) की सम्भावना बनी रहेगी। रोगी की चिकित्सा से रोगमुक्ति के साथ पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ होता है, स्वभावतः खवैगुण्य भी ठीक होता है, पुनरावर्तन का भय नहीं रहता।

(४) जब हम यह कहते हैं कि रोगी की चिकित्सा से रोगोपशमन के साथ-साथ मुख्यतः व्याधिक्षमत्वबल एवं व्याधिबल विरोधिकत्वबल की पुनः स्थापना हो जाती है, तब हमारा ध्यान शारीरिक एवं मानसिक बल को सम्पादित करने वालें आहार एवं आचरणपरक अन्न, औषध एवं विहार की ओर जाता है और इसीलिए निदान परिवर्जन एवं पथ्यापथ्य का महत्व जितना आयुर्वेद ने स्वीकारा है, उतना किसी ने नहीं। कृमियों का रोगोत्पत्ति एवं संक्रमण से सम्बन्ध का पूर्ण ज्ञान होने पर भी आप्त महर्षियों ने कृमि-उत्पादक आहार-विहार तथा कृमि-संक्रमित शरीर को ही अधिक महत्व दिया है, कृमि को नहीं। यह बात वैज्ञानिक लुई पैश्चर (Louis Pasteur) के इस कथन से साम्य रखता है कि 'Microbe is nothing, soil is everything'. जब तक शरीर में व्याधि प्रतिबन्धकत्व बल है तब तक रोग नहीं हो सकता है। अतः रोगी की चिकित्सा करो। बहुत गहराई में रोग का प्रारम्भ मानसिक भावों से होता है, प्रज्ञापराध से होता है, Strain and stress से होता है। इनकी चिकित्सा ही चिकित्सा का प्रारम्भ है। इन सब बातों से मनुष्य को समग्र रूप में समझने का संकेत मिलता है।

(५) दोष-दूष्य-स्रोतस ठीक रहें तो स्वास्थ्य बना रहता है और जब इनके बल या प्राकृतिक स्थिति का ह्रास होता है तब रोग उत्पन्न होते हैं। सम्प्राप्ति पूर्वक रोगों की सम्प्राप्ति-विघटन ही चिकित्सा है। शोधन-चिकित्सा से दोषों की और शमन-चिकित्सा से दोषों के साथ दूष्यों की भी चिकित्सा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होती है। इस प्रकार दोष-धातु-मलों को भी समस्तरूप में ही समझा गया है। 'चय-प्रकोप-प्रसर' की चिकित्सा केवल आयुर्वेद ही करता है। अन्य चिकित्सा-प्रणालियाँ तो मात्र 'स्थानसंश्रय-व्यक्ति-भेद' की ही चिकित्सा करती हैं। आयुर्वेद ही रोग का समूलोच्छेदन करता है। क्योंकि वह चयादि सभी अवस्थाओं की चिकित्सा करता है। 'सम्प्राप्ति विघटनमेव चिकित्सा' में भी समग्रता का ही ध्यान रखा गया है।

(६) हमने सिद्धान्तों के सामान्यीकरण (Generalisation) के साथ-साथ रोगी के वैशिष्टच (Personality) का भी ध्यान रखा है। प्रत्येक रोगी अपने आप में एक विशिष्ट इकाई है, जो 'प्रकृति-सत्त्व-सात्म्य' के आधार पर अन्य इकाइयों से पृथक् है। हम इस इकाई की समग्रता को ध्यान में रखते हैं (Total personality of men)। अतएव 'प्रकृतितः परीक्षेत, सत्त्वतः परीक्षेत, सात्म्यतः परीक्षेत' आदि कहा गया है। इन्हीं के आधार पर प्रत्येक रोगी की चिकित्सा में —औषधि, अनुपान, पथ्य में—अन्तर आ जाता है। इस प्रकार हम रोगी को समग्ररूप में ग्रहण करके रोग की समस्त परिधियों को छू पाते हैं। इसीलिए चिकित्सा से यथेप्सित लाभ पहुँचता है।

(७) जब हम यह कहते हैं कि रोगी को 'समस्त रूप में' स्वीकार करके चिकित्सा करो, तब हम यह भी कहना चाहते हैं कि रोगी को न केवल आपसे सहायता की अपेक्षा है, बल्कि आपसे उसे सहानुभूति की भी अपेक्षा है। रोगी मात्र मांसपिण्ड नहीं है, मात्र लक्षणों का पुंज नहीं है। वह मानव है, उसकी कुछ भावनाएँ भी हैं, रुचियाँ भी है, संवेदनाएँ भी हैं। रोगी के अतिरिक्त वह एक मानव भी है। अतः चिकित्सक के नाते रोगी की सहायता करो और मनुष्य के नाते उसे सहानुभूति भी दो। स्मरणीय है कि यदि रोगी के मानसिक भावों को उठाया जाए, दृढ़ किया जाए तो रोगमुक्ति शीघ्र हो सकती है। इसीलिए रोगी की चिकित्सा एवं परिचर्या के समय पूर्ण सहानुभूति, मैत्रीभाव तथा आत्मीयता होनी चाहिए, ऐसा उपदेश दिया गया है। स्पष्टतः 'पैसा कम सेवा अधिक' का सिद्धान्त स्वीकृत किया गया है। चिकित्साशास्त्र की प्रवृत्ति के पीछे 'करुणा' है और निष्पत्ति के पीछे 'मैत्री' है।—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

चिकित्सा-ग्रन्थ

अगदतन्त्र	–डॉ. अयोध्या प्रसाद 'अचल'
शल्य-विज्ञान (1-2 भाग, सचित्र)	–डॉ. अनन्तराम शर्मा
अष्टाङ्गहृदयम् (सूत्रस्थान)	–डॉ. अनन्तराम शर्मा
आयुर्वेद की पेटेण्ट औषधियाँ	–डॉ. जहान सिंह चौहान
आयुर्वेदीय रोग एवं विकृति विज्ञान	–डॉ. श्रीकान्त पाण्डेय
आयुर्वेदीय रोगी-रोग परीक्षा पद्धति	–डॉ. गोविन्द प्रसाद उपाध्याय
आयुर्वेदीय रसशास्त्र	–डॉ. चन्द्रभूषण झा
कायचिकित्सा (1-4 भाग)	–डॉ. विद्याधर शुक्ल
चक्रदत्त	–वैद्य रविदत्त शास्त्री
चरकसंहिता। 'चरक-चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या (1-2 भाग)	–ब्रह्मानन्द त्रिपाठी
द्रव्यगुण विज्ञान	–डॉ. छोटेलाल यादव एवं डॉ. केदारनाथ यादव
धन्वन्तरि-निघण्टु	–प्रो. झारखण्डे ओझा
नाडीविज्ञानम्। कणाद। हिन्दी टीका सहित	–श्री अभय कात्यायन
भेलसंहिता। हिन्दी टीका सहित	–श्री अभय कात्यायन
भैषज्यकल्पना-विज्ञान	–आचार्य सिद्धिनन्दन मिश्र
भैषज्यरत्नावली	–प्रो. सिद्धिनन्दन मिश्र
रसामृतम्	–वैद्य यादवजी त्रिकमजी एवं डॉ. देवनाथ गौतम
व्यवहारायुर्वेद एवं विधिवैद्यक	–डॉ. अयोध्याप्रसाद 'अचल'
शार्ङ्गधरसंहिता	–डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी
सुश्रुतसंहिता (1-3 भाग)	–डॉ. अनन्तराम शर्मा

सी.सी.आई.एम.– नई दिल्ली के नवीन पाठ्यक्रमानुसार एकमात्र सीरीज

Quick Revision Books

चौखम्बा आयुर्वेद पॉकेट सीरीज

प्रधान सम्पादक : दीपक यादव प्रेमचन्द्र | लेखक : बोर्ड ऑफ स्कॉलर्स

• पॉकेट सीरीज की प्रमुख विशेषताएँ •

- सी.सी.आई.एम.– नई दिल्ली द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार सभी विषयों का समावेश।
- विषय को सुलभतापूर्वक समझने के लिये सारणी आदि का विपुल मात्रा में प्रयोग। पाठ्यक्रम के अनुसार आवश्यक सभी श्लोकों के साथ ग्रंथसंदर्भों का भी समावेश।
- User's friendly handbook बनाने हेतु पुस्तक में सरल, सुलभ एवं प्रवाही भाषा का प्रयोग।

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

email : csp_naveen@yahoo.co.in

website : www.chaukhamba.co.in

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi